14

भारत-संधान

भारतीय चिन्तन की स्वाध्याय पत्रिका

(मासिक)

वर्ष-2, अंक-14 सितम्बर 2012 मूल्य 20.00

देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति।।

ईश्वर के काव्य को देखो जो न तो कभी नष्ट होता है और न कभी पुराना पड़ता है।

(अथर्ववेद)

हम लोग भेड़ों के स्वभाव का आवरण लिए हुए सिंह हैं। हम लोग अपने आसपास के आवरण के द्वारा सम्मोहित कर शक्तिहीन बना दिये गये हैं। वेदान्त का उद्देश्य मनुष्य को इस सम्मोहन से मुक्त करना है।

स्वामी विवेकानन्द, पृ. 5

पर एक चीज़ ने मन में जड़ जमा ली– यह संसार नैतिकता पर टिका हुआ है। सारी नैतिकता का समावेश सत्य में है। सत्य को तो खोजना ही होगा। दिन पर दिन सत्य की महिमा मेरे निकट बढ़ती गई। सत्य की व्याख्या विस्तृत होती गई, और अभी भी हो रही है।

महात्मा गान्धी, पृ. 8

हम मुद्रित शब्दों को और तथाकथित पवित्र ग्रन्थों को कितना अधिक महत्व देते हैं! सामान्यजन हों या पण्डित, सभी लोग ग्रामोफोन के तवे जैसे ही हैं। ये सब लोग एक ही बात को दोहराते रहते हैं। पण्डितों को केवल ज्ञान-संपादन से मतलब रहता है, साक्षात् अनुभव से नहीं।

जे. कृष्णमूर्ति, पृ. 10

लोक में जो कुछ भी है उस सबका परम सत्य है एक 'पुरुष' या एक 'सत्'। यहाँ हम जिन मानसिक और भौतिक रूपों के सम्पर्क में आते हैं वह उन सबसे परे है। मन, प्राण और शरीर से परे एक आध्यात्मिक सत्ता एवं आत्मा है, जो सभी शान्त वस्तुओं को और अनन्त को अपने अंदर धारण किये हुए है।

श्री अरविन्द, पृ. 12

भारत की सभ्यता का मूल स्रोत नगर में नहीं, बल्कि वन में था। यहाँ वृक्ष, नदी, सरोवर का मनुष्य के साथ योग बना रहा। यहाँ मनुष्य भी था, निर्जन स्थान भी था, निर्जनता से भारत का चित्त जड़ नहीं हुआ, वरन उसकी चेतना और भी उज्ज्वल हो उठी। हम कह सकते हैं कि शायद दुनिया में और कहीं ऐसा नहीं हुआ होगा।

रवीन्द्रनाथ टैगोर, पृ. 16

वास्तव में, सभी वस्तुएँ एक-दूसरे से सटकर तुम्हारे ही अन्दर मौजूद रहती हैं–जिनको तुम चाहते हो और जिनसे तुम डरते हो, जिनसे तुम घृणा करते हो और जिनकी तुम अभिलाषा करते हो, जिनके पीछे तुम दौड़ रहे हो और जिनसे तुम छुटकारा चाहते हो।

ख़लील जिब्रान, पृ. 20

जिस व्यक्ति के अन्दर अहिंसा का भाव आ जाता है उसकी उपस्थिति में वैर नहीं रहता।

पतंजलि, पृ. 32

Because of deep rooted identification with the body, one feels vulnerable and powerless. The needs of the body feel like one's own needs, and the fears of the body become one's own fears. When one prays intensely, the prayer removes the barrier of the conditioning and reveals the heart where the prayer is already answered.

Mansoor Abdulla, p. 35

भारत-संधान

भारतीय चिन्तन की मासिक स्वाध्याय-पत्रिका

अंक-14 सितम्बर 2012

सम्पादकीय: अदीनाः स्याम शरदः शतम्		2
धर्म का सार-तत्त्व	स्वामी विवेकानन्द	5
धर्म की खोज	महात्मा गांधी	8
विचारों का विराम	जे. कृष्णमूर्ति	10
भारतीय आध्यात्मिकता और जीवन	श्री अरविन्द	12
तपोवन	रवीन्द्रनाथ टैगोर	16
जीवन-संदेश-3	ख़लील जिब्रान	20
क्या आत्मा और परमात्मा एक हैं? कुछ शंकाएँ	रवीन्द्र अग्निहोत्री	24
वाक्यपदीयः भर्तृहरि का भाषा-दर्शन-14	अनिल विद्यालंकार	26
वैदिक प्रार्थनाएँ-2	अनिल विद्यालंकार	29
पतंजलि का योग-दर्शन-14	"	32
Yoga of Silence or Chup Sadhana-14	Mansoor Abdulla	35
India is far from Sri Aurobindo's Vision	Claude Arpi	37
संस्कृत पाठ-16	अनिल विद्यालंकार	40
प्रश्न-चर्चा		45
पाठकों की बात		48

सम्पादकः अनिल विद्यालंकार ❖ सहायक सम्पादकः राकेश नवीन

❖सम्पादन सहयोगः महेन्द्र कुमार शर्मा, सौम्या शर्मा

❖ रूपांकनः संजय कुमार

यह पत्रिका शिक्षित भारतीय बनने में आपकी सहायता कर सकती है।

जे-56 साकेत, नई दिल्ली-110017, फोनः 011-41764317

ई-मेलः sandhaan@airtelmail.in, anilvid@bharatsandhaan.org,

अदीनाः स्याम शरदः शतम् (यजुर्वेद 36.23)

(हम सौ वर्ष तक बिना दीन बने हुए जिएँ।)

हमारे पूर्वज वैदिक ऋषियों का संकल्प था—**अदीनाः स्याम शरदः शतम्। भूयश्च शरदः शतात्**—हम सौ वर्ष तक बिना दीन बने हुए जिएँ, और सौ साल के बाद भी। आज इस संकल्प को फिर से याद करने की आवश्यकता है।

यह संकल्प भारत के ऋषियों ने किया था, पर यह केवल भारतीयों के लिए ही नहीं था। हमने इस पत्रिका में कई बार कहा है कि जब भारतीय चिन्तन का विकास हुआ था तब दुनिया देशों में नहीं बँटी थी। प्राचीन भारत के ऋषि मनुष्यमात्र के लिए सोचते थे, इसलिए वे ऐसे विचार दे सके जो सभी स्थानों और समय के मनुष्यों के लिए उपयोगी हैं।

जन्म के समय बच्चा बिलकुल असहाय अवस्था में होता है। वह अपने आप कुछ भी नहीं कर सकता, और किसी भी दुखद अनुभूति के होने पर उसकी प्रतिक्रिया केवल रोने तक सीमित रहती है। धीमे-धीमे वह अपने शरीर पर नियंत्रण पाने लगता है और कुछ साल में ही शारीरिक स्वतंत्रता की भावना उसमें आ जाती है। वह कुछ स्वाभाविक रूप से और अधिकतर विद्यालयी शिक्षा के द्वारा परिवेश के बारे में कुछ जानकारी भी हासिल कर लेता है जो उसके चिन्तन के क्षेत्र को व्यापक बनाती है। वह धीरे-धीरे स्वायत्त व्यक्ति बनने लगता है। पर क्या सही अर्थों में उसमें स्वायत्तता आती है? कितने व्यक्ति कह सकते हैं कि वे वास्तव में अपने जीवन में स्वाधीन हैं?

मनुष्य धनी हो या निर्धन, पराधीनता सभी मनुष्यों को घेरे रहती है। निर्धन या निर्बल को तो दूसरों के अधीन होकर काम करना ही पड़ता है, धनी या सबल भी अपने से धनी या सबल व्यक्तियों की अधीनता स्वीकार करने के लिए बाध्य है। स्वाधीन वह व्यक्ति है जिसका सारा जीवन अपने अधीन हो। संस्कृत की उक्ति है—**सर्वं परवशं दुःखं, सर्वम् आत्मवशं सुखम्** (जो कुछ भी दूसरे के वश में है वह दुःख का कारण है, जो कुछ अपने वश में है उसी से सुख मिलता है)। तुलसीदास ने भी कहा—**पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं।** पराधीन आदमी सपने में भी सुखी नहीं रह सकता। दीन होकर जीना बहुत बड़ा अभिशाप है।

दीनता के कई प्रकार हैं। उनमें से कुछ प्रमुख हैं—

शारीरिक दीनता. कालिदास ने कहा था—**शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्** (अपना कर्तव्य कर्म करने का सबसे पहला साधन शरीर है)। हम स्वाधीन रहें इसके लिए आवश्यक है कि हमारा शरीर हमारे नियन्त्रण में हो। अपने देश में तन्दुरुस्त व्यक्ति को **स्वस्थ** कहा जाता है। यह बहुत ही सार्थक शब्द है। स्वस्थ वह है जो **स्व**—अपने अन्दर, **स्थ**—स्थित हो। स्वस्थ वह है जो शारीरिक रूप से किसी पर निर्भर न हो। इसके लिए छोटी अवस्था से ही नियमित जीवन बिताने का अभ्यास करना आवश्यक है।

अनियंत्रित जीवन जीने—असंतुलित भोजन करने, शराब पीने, धूम्रपान करने, व्यायाम न करने से शरीर रोगी हो जाता है। फिर हमें डाक्टरों की शरण में जाना पड़ता है जो एक प्रकार की दीनता है। डाक्टर के इलाज़ से कई बार हम ठीक हो जाते हैं पर बहुत बार डाक्टर भी रोग का सही निदान नहीं कर पाते, और उनके इलाज से फायदा होने की बजाय नुकसान होने की भी संभावना रहती है। आए दिन पढ़ने को मिलता है कि किस प्रकार दवा बनानेवाली कम्पनियाँ बहुत बार अपने लाभ के लिए लोगों को पूरा सत्य नहीं बतातीं। चिकित्सा के क्षेत्र में काम कर रही कम्पनियों को फायदा पहुँचाने के लिए बहुत बार डाक्टर ऐसी दवाइयाँ रोगियों को देते हैं जिनकी उन्हें ज़रूरत नहीं थी, या ऐसे टैस्ट करवाते हैं जो रोगियों के लिए आवश्यक नहीं थे। रोगी बेचारा दीन बनकर यह सब सहने के लिए बाध्य है।

आधुनिक चिकित्साविज्ञान ने बहुत प्रगति की है।

प्लेग और चेचक चेचक जैसे रोगों का पृथ्वी से सफाया कर देना छोटी बात नहीं है। पोलियो के उन्मूलन में सफलता मिलनेवाली है। मलेरिया और एड्स पर नियंत्रण की दिशा में भी प्रगति हो रही है। कैंसर पर अनुसंधान जारी है, और आज कैंसर के रोगी पहले की तुलना में ज़्यादा जी सकते हैं। हमें इस सबका स्वागत करना चाहिए।

हम आधुनिक चिकित्सा को सर्वथा नकार नहीं सकते। आनुवंशिक और पुराने शरीरगत रोगों में, वृद्धावस्था में और हड्डी टूटने जैसी दशाओं में डाक्टर का सहारा ज़रूरी हो जाता है और उसे बिना दीन भाव के हमें स्वीकार करना चाहिए।

पर रोगों से छुटकारा पाना और स्वस्थ होना एक बात नहीं है। यदि कोई दिनभर काम करके शाम को शराब पीने के लिए अपने को मजबूर महसूस करता है तो वह अवश्य ही स्वस्थ नहीं है। उसने दिन में काम करते हुए केवल शारीरिक थकावट ही नहीं, मानसिक तनाव भी एकत्रित किया है जिसे दूर करने के लिए वह शराब पीना ज़रूरी समझता है। शराब के या अन्य किसी मादक द्रव्य के अधीन हो जाना भी दीनता ही है।

शारीरिक दीनता से छुटकारा पाने और शरीर को स्वस्थ रखने के लिए प्राचीन ऋषियों ने योगासन और प्राणायाम की विधि निकाली थी। हम एक बार फिर कहें कि जो लोग योगासन करने को योग करना समझते हैं वे बहुत बड़ी गलती कर रहे हैं। योगासन योग की साधना के अंग हैं, पर वे स्वयं योग नहीं हैं। इतना निश्चित है कि शरीर को स्वस्थ रखने के लिए योगासनों से अच्छी विधि मनुष्यों द्वारा नहीं खोजी गई है। कुछ सरल आसन और कुछ उपयोगी प्राणायाम करना हमारी दिनचर्या का अंग होना चाहिए।

तो शारीरिक दीनता से मुक्ति अदीन होने का पहला चरण है।

आर्थिक दीनता. सामन्ती युग में केवल कुछ लोग धनी और शेष आर्थिक रूप से दीन होते थे। आज लोकतंत्र और विकसित टैक्नालाजी के युग में आर्थिक दीनता के देश में रहने का कोई कारण नहीं है। अधिकाधिक आर्थिक विकास यथाशीघ्र और सबके लिए होना चाहिए, यह सर्वमान्य है, और उसके लिए हम सभी को अधिक से अधिक प्रयास करना चाहिए। यदि हम इस दिशा में प्रगति नहीं कर पाए तो यह केवल हमारी की गलत नीतियों और क्षुद्र स्वार्थों के कारण है। आज जनता के लिए योजनाएँ बनाते समय प्रायः इस बात को ध्यान में रखा जाता है कि उन योजनाओं को क्रियान्वित करने से शासकों को क्या लाभ मिलेगा। आज़ादी मिलने के 65 साल बाद भी, केन्द्रीय सरकार के अपने आकलन के अनुसार, बीसियों करोड़ लोग गरीबी रेखा से नीचे हैं। ऐसा क्यों है? क्यों नहीं हम इतने उद्योग-धन्धे खोलते, और लोगों को उनमें काम करने के लिए समर्थ बनाते ताकि सभी लोग सम्मान के साथ आजीविका कमाते हुए जी सकें? गान्धी जी के चरखे को याद करने की ज़रूरत है। चरखा गांधी जी के लिए स्वराज का हथियार था। आज चरखे को हमें प्रतीक के रूप में लेना है। इसका तात्पर्य होगा कि सभी मनुष्य समर्थ और स्वावलंबी हों। कोई भी मनुष्य दीन बनकर किसी के आगे हाथ न फैलाए। पर आज लगता है कि कुछ योजनाएँ गरीब लोगों को गरीब रखकर उनका वोट बटोरने के लिए ही बनाई जा रही हैं।

मानसिक दीनता. आर्थिक विकास ही मनुष्य के सम्पूर्ण विकास का रूप नहीं ले सकता। विकास की एक विचित्र परिभाषा हमने पश्चिम से ले ली है कि जो देश आर्थिक रूप से विकसित हैं वे ही विकसित हैं, शेष सब अविकसित या विकासमान। मनुष्य मूलतः मन-केन्द्रित प्राणी है। जब तक मनुष्य के मन का पूर्ण विकास नहीं होता तब तक सभी देशों के मनुष्य समान रूप से अविकसित हैं, भले ही वे तथाकथित विकसित देशों के रहनेवाले हों या अविकसित या विकासमान देशों के। मनुष्य के मन का विकास किस दिशा में होगा और वह कैसे हो सकता है, इस विषय पर पतंजलि, श्री अरविन्द और जे. कृष्णमूर्ति जैसे मनीषियों ने बहुत लिखा है। हमें पश्चिमी मनोवैज्ञानिकों के अधकचरे विचारों पर आश्रित रहने की बजाय इन मनीषियों से मार्गदर्शन प्राप्त करना चाहिए।

मानसिक दीनता का सबसे अधिक दुष्प्रभाव हमारी शिक्षा पर पड़ रहा है। आज शिक्षासंबंधी सारे विचार हमने पश्चिम से लिए हैं। पाठ्यक्रम बनाने से बच्चों की परीक्षा तक उन विचारों पर आधारित हैं जो विदेशों से हमें मिले हैं। हमारा केन्द्रीय माध्यमिक शिक्षा मंडल (CBSE) विद्यालय शिक्षा को गुलामी की ओर ले जाने में अग्रणी है। इसकी सतत समग्र मूल्यांकन (CCE) की मूर्खतापूर्ण योजना के विरुद्ध हमने पत्रिका में बहुत बल देकर लिखा है। (देखें अंक 6 और 7, जनवरी, फरवरी, 2012)। हमारे मानव संसाधन विकास मंत्री ने पहले सितंबर 2011 में कहा कि अधिकतर अध्यापक नहीं

जानते कि CCE का मतलब क्या है। फिर कुछ महीने बाद ही उन्होंने इस योजना को देशभर में लागू करने का निश्चय किया। अब वे कहते हैं कि CCE पर पुनर्विचार होना चाहिए। अभी हाल की खबर है कि इस योजना को नया रूप देने के लिए एक विदेशी संस्था Pearson Foundation के साथ दीर्घकालीन समझौता किया गया है जो हमारी विद्यालयी शिक्षा के सभी अंगों को प्रभावित करेगा। क्या हम अपनी माध्यमिक शिक्षा के बारे में भी अपने आप विचार नहीं कर सकते? यदि मंगल ग्रह पर हमें कोई यान भेजना हो तो हम अमेरिका से सीखें, यह समझ में आता है। पर विद्यालय शिक्षा? उस देश में जहाँ शिक्षा की 5000 वर्ष की अविच्छिन्न परम्परा रही है!

हम भारतीयों की मानसिक दीनता का सबसे बड़ा कारण है कि हमने अपने शैक्षिक-आर्थिक-सामाजिक जीवन में एक विदेशी भाषा और मानसिकता की गुलामी स्वीकार कर ली है। हर भाषा की अपनी विचार-परम्परा होती है। हम उसके प्रभाव से बच नहीं सकते। मानसिक दीनता से छुटकारा पाने के लिए हमें अपने जीवन के सभी पक्षों में हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं को प्रमुख स्थान देना होगा।

मानसिक-भाषिक दीनता शारीरिक और आर्थिक दीनता से भी बढ़कर नाशक है।

धार्मिक-आत्मिक दीनता. दीनता का एक बड़ा क्षेत्र हम भारतीयों के लिए ही नहीं, संसार के सभी लोगों के लिए, धर्म है। यह हमारे जीवन का वह क्षेत्र है जहाँ मानकर चला जाता है कि मनुष्य को अपने आप सोचने का अधिकार नहीं है। हमें जीवनभर वही मानते जाना है जो हमारे परिवार ने और धर्मगुरुओं ने हमें बचपन में सिखा दिया है। केवल धर्मान्तरण करने पर ही मनुष्य अपने बचपन के धर्म की जकड़ से मुक्त हो पाता है। पर वह तुरन्त ही दूसरे नये धर्म की जकड़ में आ जाता है। इसका अर्थ हुआ एक जेल से छूटकर दूसरी में बन्द हो जाना। धर्म का दास बने रहना मनुष्य की नियति हो गई है, जबकि धर्म को मनुष्य को मुक्त बनाना चाहिए—स्वयं अपने से भी मुक्त।

धर्म अधिकतर अपने सभी अनुयायियों को दीन बना देता है। यदि ईश्वर हमारा पिता है तो उसके आगे दीनता कैसी? क्या कोई पिता अपने पुत्र से यह अपेक्षा करता है कि वह उसके आगे गिड़गिड़ाए? पर धर्म के प्रभाव में अधिकतर मनुष्य याचक बन जाते हैं। वेद में परमात्मा के सौ से अधिक नाम हैं। उनमें से एक नाम **मित्र** है। परमात्मा हमारा पिता ही नहीं, मित्र भी है। गीता में अर्जुन श्रीकृष्ण को सखा और पथप्रदर्शक मानता है। वह श्रीकृष्ण से यह नहीं कहता कि आप हमारी ओर से इस युद्ध में भाग ले रहे हैं, कृपा कर अपनी शक्ति का प्रयोग कर हमें युद्ध में विजय दिला दीजिए। गीता का एक प्रसिद्ध श्लोक है—

उद्धरेदात्मना ऽत्मानम् नात्मानम् अवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैवारिपुरात्मनः।। (गीता- 6-5)

(मनुष्य को अपने द्वारा ही अपने आप को ऊपर उठाना चाहिए। उसे कभी भी निराश नहीं होना चाहिए। मनुष्य अपने आप अपना बन्धु है, और अपने आप ही अपना शत्रु है।)

हम से ऊपर की कोई शक्ति है जिसने यह विश्व रचा है, यह निर्विवाद है। पर क्या उस शक्ति से हमारा सम्बन्ध दाता और याचक का है? क्या वह शक्ति इस दुनिया को और हमें बनाकर दुनिया से और हमसे अलग कहीं बैठी है? या फिर वह हमारी सभी अनुभूतियों, विचारों और कार्यों में परिलक्षित हो रही है? उस शक्ति को अपने अन्दर अनुभव करने पर दीनता का भाव सदा के लिए समाप्त हो जाता है। फिर दुनिया में हमारे साथ जो कुछ हो रहा है उसे स्वीकार कर, सामने की समस्या का सामना करने के लिए हमें क्या करना है यह जानकर, हम मार्ग पर निरन्तर आगे चलते रहते हैं। प्रार्थना करनी हो तो वह अपने लिए कुछ माँगने की न होकर उस परा शक्ति को अपने अन्दर उतारने के लिए हो। परमात्मा के पास जाकर हम सबल बनें, निर्बल नहीं।

संक्षेप में, संसार में बिना दीन बने जीवन जीने के लिए—

- शरीर स्वस्थ रखें।
- आर्थिक स्वावलम्बन प्राप्त करें।
- वैचारिक स्वतंत्रता का विकास करें। अपनी, समाज की और देश की हर समस्या पर अपनी ओर से अपनी भाषा में विचार करें। दूसरों की बात आँख मींचकर नहीं मानें, और न अपने विचार दूसरों पर थोपने की कोशिश करें।
- अपने धर्म पर अपने विवेक से विचार करें। उन बातों को मानें जो आपको ठीक लगती हैं। शेष को नकार दें।
- सदा ध्यान रखें कि आप सर्वशक्तिमान परमेश्वर की सन्तान हैं। । आपके अशक्त, दीन होने का प्रश्न ही नहीं उठता।●

धर्म का सार-तत्त्व

स्वामी विवेकानन्द

(अमेरिका में दिये गए एक भाषण का विवरण)

भारत में धर्म के बारे में हम लोगों का एक विशिष्ट दृष्टिकोण है। मान लो मेरा एक लड़का होता। मैं उसे किसी धर्म की शिक्षा नहीं देता, परन्तु उसे अपने मन को एकाग्र करने की कोई साधना और प्रार्थना की कोई एक पंक्ति अवश्य बताता। प्रार्थना से तुम लोग जैसा समझते हो, वैसी प्रार्थना नहीं, परन्तु ऐसी कि 'मैं उसका ध्यान करता हूँ, जो विश्वस्रष्टा है। वह मेरी बुद्धि को निर्मल करे।' फिर जब वह पर्याप्त बड़ा हो जाता है, तब वह विभिन्न दर्शनों और उपदेशों को सुनता है। और फिर जिसे वह सत्य समझता है, अंततः वह उसे ग्रहण कर लेता है। तब वह उस गुरु का, उस सत्य का उपदेश करनेवाले गुरु का शिष्य हो जाता है। वह ईसा, बुद्ध या मुहम्मद किसी की भी पूजा कर सकता है। हम इनमें से सभी के अधिकारों को तथा हर मनुष्य को अपने इष्ट देवता या चुने हुए मार्ग को अपनाने का अधिकारी मानते हैं। अतः यह नितान्त सम्भव है कि आपसी विद्वेष से पूर्णतः मुक्त रहते हुए एक ही समय मेरा पुत्र बौद्ध धर्मानुयायी हो, मेरी पत्नी ईसाई हो तथा मैं मुसलमान होऊँ।

हम इस बात से प्रसन्न हैं कि सम्प्रदाय, पूजा-पद्धतियाँ तथा धार्मिक पुस्तकें, जहाँ तक मनुष्य के अपने स्वरूप की प्राप्ति में साधनों का काम करती हैं, ठीक हैं। परन्तु जब मनुष्य वह ज्ञान प्राप्त कर लेता है, तो वह इन सभी वस्तुओं को त्याग देता है। 'मैंने वेदों को अस्वीकार किया', ये वेदान्त दर्शन के अन्तिम शब्द हैं। कर्मकांड, भजन तथा धर्मग्रन्थ, जिनके अनुसार चलकर उसने मुक्ति प्राप्त की, वे सभी उसके लिए अंतर्धान हो जाते हैं। 'मैं वह हूँ'—शब्द उसके ओठों से फूट पड़ते हैं। उसके लिए ईश्वर को 'तू' कहना भी ईश-तिरस्कार है, क्योंकि वह 'पिता में एकत्व' प्राप्त कर लेता है।

व्यक्तिगत रूप से मैं वेदों से उतना ही ग्रहण करता हूँ जितना बुद्धिसम्मत है। वेदों के अनेक अंश विरोधात्मक प्रतीत होते हैं। पश्चिम में जिस अर्थ में समझा जाता है, उस अर्थ में वे अन्तःस्फुरित नहीं हैं, पर उन्हें ईश्वर तथा सर्वज्ञता संबंधी समस्त ज्ञान का स्रोत माना जाता है। परन्तु यह कहना कि केवल वेदनामक ग्रंथों में ही यह ज्ञान सीमित है, निरा कुतर्क होगा। हम जानते हैं कि प्रत्येक संप्रदाय के धर्मग्रंथों में यह ज्ञान विभिन्न अंशों में प्रतिपादित है। मनु का कहना है कि वेदों के बुद्धिसंगत अंश ही वेद हैं। हमारे बहुत से दार्शनिकों ने भी इस दृष्टिकोण को स्वीकार किया है। दुनिया के सभी धर्मग्रंथों में केवल वेद ही ऐसे हैं जो घोषणा करते हैं कि वेदों का अध्ययन गौण है।

वास्तविक अध्ययन वह है जिसके द्वारा हम लोग शाश्वत को प्राप्त करते हैं, और वह शाश्वत न अध्ययन से प्राप्त होता है, न विश्वास से, न तर्क से, अपितु अतिचेतन प्रत्यक्ष तथा समाधि से प्राप्त होता है। जब मनुष्य इस पूर्णावस्था को प्राप्त कर लेता है, तब वह सगुण ईश्वर की अवस्थावाला हो जाता है —'मैं और मेरे पिता एक हैं।' वह उस नित्य ब्रह्म के साथ अपनी एकरूपता अनुभव करता है, तथा स्वयं का सगुण ईश्वर के सदृश प्रतिक्षेप करता है। माया अर्थात् अज्ञान के कोहरे के द्वारा देखा गया ब्रह्म ही सगुण ईश्वर है।

जब हम उस ब्रह्म के पास पंचेन्द्रियों द्वारा पहुँचते हैं तब हम सगुण ईश्वर के रूप में ही उसका दर्शन कर सकते हैं। भाव यह है कि आत्मा को विषय (object)

नहीं बनाया जा सकता। ज्ञाता स्वयं अपने आपको कैसे जान सकता है? परन्तु वह अपनी एक छाया जैसी तो डाल सकता है, और उस छाया को आत्मा के विषय के रूप में देखना ही सगुण ईश्वर है। आत्मा तो नित्य विषयी (subject) है और हम लोग नित्य ही उसको विषय बनाने के लिए संघर्षरत हैं। उस संघर्ष का फल यह दृश्य जगत् है जिसे हम जड़ कहते हैं।

तुम्हारे एक पाश्चात्य विचारक का कहना है कि 'एक सत् ईश्वर, मनुष्य की सबसे महान् कृति है।' जैसा मनुष्य, वैसा ही ईश्वर। मनुष्य ईश्वर को मानवीय अभिव्यक्तियों के बिना नहीं देख सकता। जो चाहे कह लो, जो चाहे प्रयत्न कर लो, परन्तु तुम ईश्वर की धारणा मनुष्यवत् बनाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर सकते। और जैसे तुम हो, वैसा ही तुम्हारा ईश्वर होगा। जब हम ईश्वर के संबंध में, उसकी परिपूर्णता की अवस्था में विचार करते हैं तो हमें घोर असफलता प्राप्त होती है, क्योंकि हम लोग अपनी वर्तमान प्रकृति के द्वारा ईश्वर को मनुष्यवत् ही जानने के लिए विवश हैं। यदि भैंसें ईश-पूजन करना चाहें, तो वे अपनी प्रकृति के अनुसार ईश्वर को महामहिष के रूप में ही देखेंगी। यदि कोई मछली ईश-पूजन करना चाहे तो ईश्वर के प्रति उसकी धारणा अनिवार्यतः एक महामत्स्य की होगी। इसी तरह मनुष्य भी ईश्वर को मनुष्य ही जैसा समझता है। कल्पना करो कि मनुष्य, महिष तथा मत्स्य विभिन्न प्रकार के बरतन हैं और ये बरतन समुद्र-रूपी ईश्वर में अपने आकार तथा पात्रता के अनुसार अपने आपको भरने जाते हैं। मनुष्य में वह जल मनुष्य का रूप धारण करेगा, महिष में महिष का तथा मत्स्य में मत्स्य का रूप धारण करेगा, परन्तु इन सभी बरतनों में उसी समुद्र-रूपी ईश्वर का जल होगा।

ईश्वर को सगुण रूप में दो ही प्रकार के लोग नहीं पूजते—एक पशुप्रवृत्ति का मनुष्य जिसका कोई धर्म नहीं है, तथा दूसरे अपनी मानवीय प्रकृति के बन्धनों का अतिक्रमण कर चुकनेवाला परमहंस। उसके लिए तो समस्त जगत् ही उस ईश्वर का स्वरूप है। केवल ऐसा परमहंस ही ईश्वर की पूजा, जैसाकि ईश्वर तत्त्वतः है उस रूप में, कर सकता है। पशुप्रवृत्ति का मनुष्य इसलिए पूजा नहीं करता कि वह अज्ञानी है, और एक जीवनमुक्त इसलिए पूजा नहीं करता कि वह स्वयं अपने आप में ईश्वर का साक्षात्कार कर चुका होता है। वह **सोऽहम् सोऽहम्** —'मैं वही हूँ' —ऐसा कहता है, तब वह किस प्रकार अपने आपकी पूजा करेगा?

मैं तुमको एक छोटी-सी कथा सुनाता हूँ। एक सिंह का बच्चा था जिसकी माँ ने मरते समय उसे कुछ भेड़ों में छोड़ दिया था। भेड़ों ने उसे खिलाया-पिलाया और आश्रय दिया। वह सिंह भेड़ों के बीच में बड़ा हुआ। जब कभी भेड़ें में-में चिल्लातीं तो वह भी में-में चिल्लाता था। एक दिन एक अन्य सिंह वहाँ पहुँचा। उस भेड़रूपी सिंह को अन्य भेड़ों के साथ मिमियाते देख उसने आश्चर्यचकित होकर पूछा —"तुम यहाँ क्या कर रहे हो?" उसने कहा "में-में, मैं एक क्षुद्र भेड़ा हूँ, मुझे डर लगता है।" पहले सिंह ने गरज कर कहा, "मूर्ख! मेरे साथ चल, मैं तुझे दिखलाऊँगा।" वह उसे एक शांत सरोवर के पास ले गया और उसने उसका प्रतिबिम्ब उसे दिखाया और कहा, "तुम सिंह हो। मुझे देखो, भेड़ों को देखो, अपने आपको देखो।" तब उस 'भेड़-सिंह' ने देखा और कहा— " मैं तो भेड़ों के जैसा नहीं लगता- मैं तो सचमुच ही सिंह हूँ!" और इतना कहकर उसने गर्जन किया जिससे पहाड़ियाँ तक काँप गईं। हमारे साथ भी यही बात है। हम लोग भेड़ों के स्वभाव का आवरण लिए हुए सिंह हैं। हम लोग अपने आसपास के आवरण के द्वारा सम्मोहित कर शक्तिहीन बना दिये गये हैं। वेदान्त का उद्देश्य मनुष्य को इस सम्मोहन से मुक्त करना है।

मुक्ति हमारा ध्येय है। मैं इस सिद्धांत से असहमत हूँ कि प्रकृति के नियमों का पालन ही मुक्ति है। मैं नहीं जानता कि इसका क्या अर्थ हो सकता है। मनुष्य की प्रगति के इतिहास को देखें तो प्रकृति के उल्लंघन से ही उस प्रगति का निर्माण हुआ है। यह भले ही कहा जा सकता है कि निम्नतर नियमों पर उच्चतर नियमों द्वारा विजय प्राप्त हुई, किन्तु वहाँ भी विजेता का मन मुक्ति का अन्वेषण कर रहा था। इस प्रकार लक्ष्य सदा ही मुक्ति है। वृक्ष कभी प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन नहीं करते। मैंने कभी किसी गाय को चोरी करते हुए नहीं देखा, कोई घोंघा कभी झूठ नहीं बोलता। फिर भी वे मनुष्य से बड़े नहीं हैं।

"वास्तविक अध्ययन वह है जिसके द्वारा हम लोग शाश्वत को प्राप्त करते हैं, और वह शाश्वत न अध्ययन से प्राप्त होता है, न विश्वास से, न तर्क से, अपितु अतिचेतन प्रत्यक्ष तथा समाधि से प्राप्त होता है। जब

मनुष्य इस पूर्णावस्था को प्राप्त कर लेता है, तब वह सगुण ईश्वर की अवस्थावाला हो जाता है —'मैं और मेरे पिता एक हैं।' वह उस नित्य ब्रह्म के साथ अपनी एकरूपता अनुभव करता है, तथा स्वयं का सगुण ईश्वर के सदृश प्रतिक्षेप करता है। माया अर्थात् अज्ञान के कोहरे के द्वारा देखा गया ब्रह्म ही सगुण ईश्वर है।"

समाज, राजनीति, धर्म —किसी भी क्षेत्र में नियमों के पीछे चलते रहने से हम केवल जड़ पदार्थ में ही परिणत हो जाएँगे। जीवन में स्वतंत्रता का एक उत्कट आग्रह है। नियमों के आधिक्य का अर्थ है मृत्यु। कोई जाति हिन्दुओं के समान इतने सारे नियमों का पालन नहीं करती, जिसका फल हुआ जातीय मृत्यु। परन्तु हिन्दुओं का एक विशिष्ट विचार भी था। उन लोगों ने धर्म में किन्हीं नियमों या जड़ सिद्धांत की स्थापना नहीं की जिससे धर्म की उच्चतम प्रगति हुई।

आत्म-ज्ञान की प्राप्ति के मार्गों में श्रेष्ठ मार्ग प्रेम का है। जब कोई प्रभु से प्रेम करता है, तब सम्पूर्ण जगत् उसका प्यारा हो जाता है, क्योंकि वह उसी का है। भक्त कहता है- "सभी मेरे हैं और मैं उनसे प्यार करता हूँ।" इसी प्रकार सभी वस्तुएँ भक्त के लिए पवित्र हो जाती हैं, क्योंकि सभी वस्तुएँ उसी की हैं। तब हम किसी और को चोट कैसे पहुँचा सकते हैं? तब हम दूसरों से प्रेम किए बिना रह कैसे सकते हैं? ईश्वरप्रेम के साथ, इसके फलस्वरूप, अन्त में सभी से प्रेम उत्पन्न हो जाएगा। हम भगवान के जितना ही निकट पहुँचते हैं, उतना ही अधिक हम देखते हैं कि सभी वस्तुएँ उन्हीं में स्थित हैं, तथा हमारा हृदय प्रेम का अविरल झरना बन जाता है। इस प्रेम के प्रकाश के सान्निध्य में मनुष्य का आन्तरिक परिवर्तन हो जाता है और वह अंत में इस सुन्दर तथा प्रेरणादायक सत्य का अनुभव करता है कि प्रेम, प्रेमिका तथा प्रेमास्पद सचमुच एक ही हैं।●

(विवेकानन्द साहित्य, द्वितीय खंड से संकलित। प्रकाशक: अद्वैत आश्रम (प्रकाशन विभागा), कोलकाता।)

[1981-83] दो वर्ष भारत में और उसके बाद तीन वर्ष विश्वभर का परिभ्रमण उनके स्वभाव की दो सहज प्रवृत्तियों —स्वतंत्रता और सेवा-भावना का सन्तोषजनक समाधान था। वे परिवार, जाति-बन्धन से मुक्त होकर, बिना किसी पूर्व योजना के ईश्वर के साथ अकेले घूमते रहे। उनके जीवन का कोई क्षण ऐसा न था जब वे गाँवों और नगरों में गरीब और अमीर के कष्टों, इच्छाओं, बुराइयों और दैन्य के सम्पर्क में न आए हों। वे उनके जीवन से एकाकार हो गए। जीवन की पुस्तक में उन्हें वह मिला जो उन्हें पुस्तकालय के सारे ग्रन्थों में न मिलता। वर्तमान का दुखी चेहरा, मानवता में संघर्षरत ईश्वर, भारत और विश्व के आर्त जनों की चीखें जिन्हें रामकृष्ण के उत्कट प्रेम ने भी अस्पष्ट ही देखा था . . .

वर्षों यात्रा, वर्षों भिक्षाटन, कैसी अनुपम शिक्षा! वे मात्र गोशाला या भिखारियों की तृणशय्या पर सोनेवाले विनम्र बन्धु न थे, वे प्रत्येक मनुष्य के समकक्ष थे। आज अछूतों की शरण में पड़े दीन भिखारी, तो कल राजकुमारों के अतिथि और बराबरी से मंत्रियों और महाराजाओं से बात करनेवाले हैं तो कभी उत्पीड़ित बन्धुओं के कष्टों को समर्पित। कभी धनिकों के ऐश्वर्य की जांच कर रहे हैं, उनके सुप्त हृदयों में लोक-कल्याण की लौ जला रहे हैं। वे जहाँ पण्डितों के ज्ञान से परिचित थे, वहीं औद्योगिक और ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था से भी अवगत थे जिससे जनसाधारण का जीवन नियंत्रित होता है। वे सदा सिखाते रहे, सीखते रहे और धीरे-धीरे अपने को भारत की आत्मा, एकता और नियति के रूप में ढाल रहे थे। ये सभी तत्त्व उनमें मूर्त हुए और संसार ने विवेकानन्द में इनके दर्शन किए।

(रोमाँ रोलाँ, *विवेकानन्द की जीवनी*)

धर्म की खोज

महात्मा गान्धी

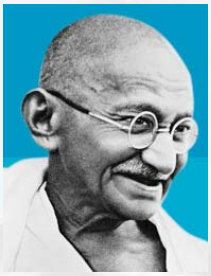

महात्मा गान्धी ने अपनी आत्मकथा को 'सत्य के प्रयोग' नाम दिया है। उनका सारा जीवन सत्य की प्रयोग-स्थली ही रहा। धर्म का क्षेत्र भी इससे अछूता न रहा। वे वैष्णव परिवार में पैदा हुए थे, पर अपने जन्म के धर्म की उन्हीं बातों को उन्होंने स्वीकार किया जो उनकी दृष्टि से सत्य की कसौटी पर खरी उतरीं। साथ ही उन्होंने अन्य सभी धर्मों का आदर किया, और विभिन्न धर्मावलंबियों के साथ धर्म के संबंध में खुले दिमाग और सद्भावना से चर्चा की। यही कारण है कि वे सभी धर्मों में अच्छाइयाँ देख सके और साथ ही उनकी कमियाँ भी। प्रस्तुत है उनकी आत्मकथा में वर्णित धर्मविषयक उनकी खोज का प्रारंभ।

छह या सात साल से लेकर सोलह साल की उमर तक मैंने पढ़ाई की, पर स्कूल में कहीं भी धर्म की शिक्षा नहीं मिली। इस तरह कह सकते हैं कि शिक्षकों से जो आसानी से मिलना चाहिए था वह नहीं मिला। फिर भी वातावरण से कुछ-न-कुछ तो मिलता ही रहा। यहाँ धर्म का उदार अर्थ करना चाहिए। धर्म अर्थात् आत्मबोध, आत्मज्ञान। मैं वैष्णव सम्प्रदाय में जन्मा था, इसलिए हवेली में जाने के प्रसंग बार-बार आते थे। पर उसके प्रति श्रद्धा उत्पन्न नहीं हुई। हवेली का वैभव मुझे अच्छा नहीं लगा। हवेली में चलने वाली अनीति की बातें सुनकर मन उसके प्रति उदासीन बन गया। वहाँ से मुझे कुछ भी न मिला।

पर जो हवेली से न मिला, वह मुझे अपनी धाय रम्भा से मिला। रम्भा हमारे परिवार की पुरानी नौकरानी थी। उसका प्रेम मुझे आज भी याद है। मुझे भूत-प्रेत आदि का डर लगता था। रम्भा ने मुझे समझाया कि इसकी दवा रामनाम है। मुझे तो रामनाम से भी अधिक श्रद्धा रम्भा पर थी, इसलिए बचपन में भूत-प्रेतादि के भय से बचने के लिए मैंने रामनाम जपना शुरू किया। यह जप बहुत समय तक नहीं चला। पर बचपन में जो बीज बोया गया, वह नष्ट नहीं हुआ। आज रामनाम मेरे लिए अमोघ शक्ति है। मैं मानता हूँ कि उसके मूल में रम्भाबाई का बोया हुआ बीज है।

इसी अरसे में मेरे चाचाजी के एक लड़के ने, जो रामायण के भक्त थे, हम दो भाइयों को राम-रक्षा का पाठ सिखाने की व्यवस्था की। हमने उसे कण्ठाग्र कर लिया और स्नान के बाद उसके नित्यपाठ का नियम बनाया। जब तक पोरबन्दर रहे, यह नियम चला। राजकोट के वातावरण में यह टिक न सका। इस क्रिया के प्रति भी खास श्रद्धा नहीं थी। अपने बड़े भाई के लिए मन में जो आदर था उसके कारण और कुछ शुद्ध उच्चारणों के साथ राम-रक्षा का पाठ कर पाते हैं इस अभिमान के कारण पाठ चलता रहा।

पर जिस चीज़ का मेरे मन पर गहरा असर पड़ा, वह था रामायण का पारायण। पिताजी की बीमारी का थोड़ा समय पोरबंदर में बीता था। वे राम जी के मंदिर में रोज़ रात को रामायण सुनते थे। सुनानेवाले बीलेश्वर के लाधा महाराज नामक एक पंडित थे। वे रामचन्द्र जी के परम भक्त थे। उनके बारे में कहा जाता था कि उन्हे कोढ़ की बीमारी हुई, तो उसका इलाज़ करने के बदले उन्होंने बीलेश्वर महादेव पर चढ़े हुए बेलपत्र लेकर कोढ़वाले अंग पर बाँधे और केवल रामनाम का जप शुरू किया। अन्त में उनका कोढ़ जड़मूल से नष्ट हो गया। यह बात सच हो या न हो, हम सुननेवालों ने तो सच ही मानी। यह भी सच है कि जब लाधा महाराज ने कथा शुरू की, तब उनका शरीर बिलकुल निरोग था। लाधा महाराज का कण्ठ मीठा था। वे दोहा-चौपाई गाते और अर्थ समझाते थे। उस समय मेरी उम्र तेरह साल की रही होगी, पर याद पड़ता है कि उनके पाठ में मुझे खूब रस आता था। यह रामायण-श्रवण रामायण के प्रति मेरे अत्यधिक प्रेम की बुनियाद है। आज मैं तुलसीदास की रामायण को भक्तिमार्ग का सर्वोत्तम ग्रंथ मानता हूँ।

कुछ महीनों के बाद हम राजकोट आए। वहाँ रामायण का पाठ नहीं होता था। एकादशी के दिन भागवत ज़रूर पढ़ी जाती थी। मैं कभी-कभी उसे सुनने बैठता था। पर भट्टजी रस उत्पन्न नहीं कर सके। आज मैं यह देख सकता हूँ कि भागवत एक ऐसा ग्रंथ है जिसके पाठ से धर्म-रस उत्पन्न किया जा सकता है। मैंने तो उसे गुजराती में बड़े चाव से पढ़ा है। लेकिन इक्कीस दिन के अपने उपवास-काल में जब भारत-भूषण पंडित मदनमोहन मालवीय के मुख से मूल संस्कृत के कुछ अंश सुने

तो ख़्याल हुआ कि बचपन में उनके समान भगवद्-भक्त के मुँह से भागवत सुनी होती तो उस पर उसी उमर में मेरा गाढ़ा प्रेम हो जाता। बचपन में पड़े हुए शुभ-अशुभ संस्कार बहुत गहरी जड़ें जमाते हैं, इसे मैं खूब अनुभव करता हूँ; और इस कारण उस उमर में मुझे कई उत्तम ग्रंथ सुनने का लाभ नहीं मिला, सो अब अखरता है।

राजकोट में मुझे अनायास ही सब सम्प्रदायों के प्रति समान भाव रखने की शिक्षा मिली। मैंने हिन्दू धर्म के प्रत्येक सम्प्रदाय का आदर करना सीखा, क्योंकि माता-पिता वैष्णव-मंदिर में, शिवालय में और राम-मंदिर में भी जाते और भाइयों को भी साथ ले जाते या भेजते थे।

फिर पिताजी के पास जैन धर्माचार्यों से भी कोई न कोई हमेशा आते रहते थे। पिताजी उन्हें भिक्षा भी देते थे। वे पिताजी के साथ धर्म और व्यवहार की बातें किया करते थे। इसके सिवा पिताजी के मुसलमान और पारसी मित्र भी थे। वे अपने-अपने धर्म की चर्चा करते और पिताजी उनकी बातें सम्मानपूर्वक और अकसर रसपूर्वक सुना करते थे। पिताजी का 'नर्स' होने के कारण ऐसी चर्चा के समय मैं अकसर हाज़िर रहता था। इस सारे वातावरण का प्रभाव मुझ पर यह पड़ा कि मुझमें सब धर्मों के लिए समान भाव पैदा हो गया।

एक ईसाई धर्म अपवादरूप था। उसके प्रति कुछ अरुचि थी। उन दिनों कुछ ईसाई हाईस्कूल के कोने पर खड़े होकर व्याख्यान दिया करते थे। वे हिन्दू देवताओं की और हिन्दू धर्म को मानने वालों की बुराई करते थे। मुझे वह असह्य मालूम हुआ। मैं एकाध बार ही व्याख्यान सुनने के लिए खड़ा रहा होऊँगा। दूसरी बार फिर वहाँ खड़े रहने की इच्छा ही न हुई। उन्हीं दिनों एक प्रसिद्ध हिन्दू के ईसाई बनने की बात सुनी। गाँव में चर्चा थी कि उन्हें ईसाई धर्म की दीक्षा देते समय गोमांस खिलाया गया और शराब पिलाई गई। उनकी पोशाक भी बदल दी गई और ईसाई बनने के बाद वे भाई कोट-पतलून और अंग्रेज़ी टोपी पहनने लगे। इन बातों से मुझे पीड़ा पहुँची। जिस धर्म के कारण गोमांस खाना पड़े, शराब पीनी पड़े, उसे धर्म कैसे कहा जाए? मेरे मन ने यह दलील की। फिर यह भी सुनने में आया कि जो भाई ईसाई बने थे उन्होंने अपने पूर्वजों के धर्म की, रीति-रिवाज़ों की और देश की निन्दा करना शुरू कर दिया था। इन सब बातों से मेरे मन में ईसाई धर्म के प्रति अरुचि उत्पन्न हो गई।

इस तरह, यद्यपि दूसरे धर्मों के प्रति समभाव जागा, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि मुझमें ईश्वर के प्रति आस्था थी। इन्हीं दिनों पिताजी के पुस्तक-संग्रह में से मनुस्मृति का भाषांतर मेरे हाथ में आया। उसमें संसार की उत्पत्ति आदि की बातें पढ़ीं। उनपर श्रद्धा नहीं जमी, उलटे थोड़ी नास्तिकता ही पैदा हुई। मेरे दूसरे चाचाजी के लड़के की, जो अभी जीवित हैं, बुद्धि पर मुझे विश्वास था। मैंने अपनी शंकाएँ उनके सामने रखीं, पर वे मेरा समाधान न कर सके। उन्होंने मुझे उत्तर दिया, "सयाने होने पर ऐसे प्रश्नों के उत्तर तुम खुद दे सकोगे। बालकों को ऐसे प्रश्न नहीं पूछने चाहिए।" मैं चुप रहा। मन को शान्ति नहीं मिली। मनुस्मृति के खाद्याखाद्य विषय के प्रकरण में और दूसरे प्रकरणों में भी मैंने वर्तमान प्रथा का विरोध पाया। इस शंका का उत्तर भी मुझे लगभग ऊपर के जैसा ही मिला। मैंने यह सोच कर अपने मन को समझा लिया कि 'किसी दिन बुद्धि खुलेगी, अधिक पढ़ूँगा और समझूँगा।' उस समय मनुस्मृति को पढ़कर मैं अहिंसा तो सीख ही न सका। मांसाहार की चर्चा हो चुकी है। उसे मनुस्मृति का समर्थन मिला। यह भी ख्याल हुआ कि सर्पादि और खटमल आदि को मारना नीति है। मुझे याद है कि उस समय मैंने धर्म समझ कर खटमल आदि को मारा था।

पर एक चीज़ ने मन में जड़ जमा ली– यह संसार नैतिकता पर टिका हुआ है। सारी नैतिकता का समावेश सत्य में है। सत्य को तो खोजना ही होगा। दिन पर दिन सत्य की महिमा मेरे निकट बढ़ती गई। सत्य की व्याख्या विस्तृत होती गई, और अभी भी हो रही है।

फिर, नैतिकता का एक छप्पय दिल में बस गया। अपकार का बदला अपकार नहीं, उपकार ही हो सकता है। यह एक जीवन-सूत्र ही बन गया। उसने मुझ पर अधिकार करना शुरू कर दिया। अपकारी का भला चाहना और करना, इसका मैं अनुरागी बन गया। इसके अनगिनत प्रयोग किए। वह चमत्कारी छप्पय यह है–

पाणी आपने पाय, भलुं भोजन तो दीजे;
आवी नमावे शीश, दंडवत कोडे कीजे;
आपण घासे दाम, काम महोरोनुं करीए;
आप उगारे प्राण, ते तणा दुःखमां मरीए;
गुण केडे तो गुण दश गणो, मन, वाचा, कर्मे करी;
अवगुण केडे जो गुण करे, ते जगमां जीत्यो सही।

(जो हमें पानी पिलाए, उसे हम अच्छा भोजन कराएँ। जो आकर हमारे सामने सिर नवाए, उसे हम उमंग से दण्डवत् प्रणाम करें। जो हमारे लिए एक पैसा खर्च करे, उसका हम मुहरों की कीमत का काम करें। जो हमारे प्राण बचाए, उसका दुःख दूर करने के लिए हम अपने प्राण तक निछावर कर दें। जो हमारा उपकार करे, उसका तो हमें मन, वचन और कर्म से दस गुना उपकार करना ही चाहिए। लेकिन जग में सच्चा और सार्थक जीना उसी का है, जो अपकार करने वालों के प्रति उपकार करता है।)●

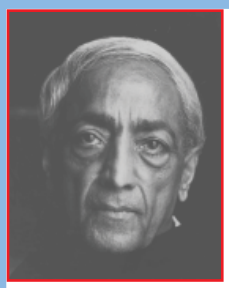

विचारों का विराम

जे. कृष्णमूर्ति

वह प्राचीन साहित्य का पारंगत विद्वान था। प्राचीन ग्रंथों के वचन उद्धृत कर अपने प्रत्येक निष्कर्ष को प्रमाणित करने की उसकी आदत थी। ग्रंथगत विचार से भिन्न, स्वतन्त्र कोई विचार उसके पास था भी या नहीं, इसमें संदेह था। वस्तुतः विचार 'स्वतन्त्र' हो ही नहीं सकता। प्रत्येक विचार किसी न किसी पर आधारित होता है, पूर्वसंस्कारबद्ध होता है। नाना प्रभावों का शब्दांकन ही विचार है। विचार करने का अर्थ है किसी न किसी पर अवलम्बित रहना। विचार कभी स्वतंत्र नहीं हो सकता।

उस व्यक्ति के लिए केवल पाण्डित्य का ही महत्त्व था। ज्ञान का भार वह लादे हुए था और अपने इस ज्ञान-संभार को वह बड़े गौरव से ढोता था। उसने एकदम संस्कृत में ही बोलना शुरू किया। लेकिन वह देववाणी कोई समझ ही नहीं पा रहा है, यह पता चलने पर वह चकित हो गया, उसे विस्मय का धक्का लगा। उसे इस बात पर विश्वास ही नहीं हो रहा था। वह कहने लगा, "आप अपने प्रवचनों में जो कुछ कहते हैं, उससे ऐसा दिखता है कि या तो आपने मूल संस्कृत ग्रंथ पढ़े हैं अथवा महान ऋषियों के ग्रन्थों के अंग्रेज़ी अनुवादों का अध्ययन किया है।" जब उसे यह पता चला कि धार्मिक तत्त्वज्ञानविषयक अथवा मानसशास्त्रीय किसी भी ग्रंथ का अध्ययन यहाँ नहीं किया गया है, तब तो वह अपना अविश्वास खुले रूप में व्यक्त करने लगा।

हम मुद्रित शब्दों को और तथाकथित पवित्र ग्रन्थों को कितना अधिक महत्व देते हैं! सामान्यजन हों या पण्डित, सभी लोग ग्रामोफोन के तवे जैसे ही हैं। ये सब लोग एक ही बात को दोहराते रहते हैं, फिर वे तवे कितनी बार बदले जाएँ। पण्डितों को केवल ज्ञान-संपादन से मतलब रहता है, साक्षात् अनुभव से नहीं। ज्ञान साक्षात् अनुभव में बाधक ही बनता है। लेकिन ज्ञान-भण्डार कुल मिलाकर बड़ा सुरक्षित आश्रय-स्थल होता है। विद्वानों का अज्ञानी जनों पर सदैव ही प्रभाव पड़ता है, अतएव विद्वानों को लोगों से आदर और सम्मान मिलता है। वस्तुतः ज्ञान-संकलन मदिरा जैसा ही व्यसन है। पठित ज्ञान से सम्यक् ज्ञान अथवा सत्य-दर्शन प्राप्त नहीं होता। ज्ञान सिखाया जा सकता है, लेकिन सिखाने से सम्यक् ज्ञान या प्रज्ञा प्राप्त नहीं हो सकती। प्रज्ञा के उदय के लिए ज्ञान से सम्पूर्ण मुक्ति आवश्यक है। प्रज्ञा प्राप्त करने के लिए ज्ञान का सिक्का नहीं चलता। लेकिन जो व्यक्ति एक बार ज्ञान के आश्रय-स्थल से चिपक जाता है, वह उसकी परिधि से बाहर निकलने का साहस ही नहीं करता, क्योंकि शब्द उसके विचार को सदैव पोसते रहते हैं और विचार करते रहने में इन विद्वानों को संतोष मिलता है। पर विचार करना साक्षात् अनुभव के लिए प्रतिबन्धक ही सिद्ध होता है। साक्षात् अनुभव के बिना प्रज्ञा का उदय नहीं होता। ज्ञान, कल्पना, निष्ठा आदि बातें प्रज्ञा के मार्ग के लिए प्रतिबन्धक हैं।

व्याप्त मन मुक्त नहीं होता। उसमें स्वयंस्फूर्ति नहीं होती। विमुक्त और स्वयंस्फूर्त स्थिति में ही नवीन का शोध होता है। व्याप्त मन अपने को परिवेष्टित करता है, प्रकाश का प्रवेश उसमें होना कठिन है, वह दुर्भेद्य हो जाता है। इसीमें उसकी सुरक्षितता और प्रतिष्ठा संचित रहती है। विचार की रचना ही ऐसी होती है कि उसके कारण मनुष्य अपनी ही नाकेबन्दी कर डालता है। वह सहज भेद्य हो ही नहीं सकता। विचार कभी सहजस्फूर्त नहीं होता। इसी तरह वह विमुक्त और स्वतन्त्र भी नहीं होता क्योंकि विचार में भूतकाल का सातत्य चलता रहता है। और यह तो है ही कि जो सातत्यवान है, वह स्वतन्त्र और मुक्त हो ही नहीं सकता। सातत्य भंग होने पर, सातत्य का अन्त होने पर ही मुक्ति का उदय होता है।

व्याप्त मन चालू व्यापार को अर्थात् सातत्य को ही आगे चलाता है। जैसे वह बैलगाड़ी का निर्माण करेगा, वैसे ही वह जेट विमान का भी निर्माण कर सकता है। हम बुद्धिहीन हैं, ऐसा हम विचार से मान लेते हैं, तो

सचमुच हम बुद्धिहीन बन जाते हैं। हम ईश्वर हैं, ऐसी हम कल्पना कर लेते हैं तो हम अपनी कल्पना की साकार मूर्ति बन जाते हैं—'अहं ब्रह्मास्मि।'

उस पंडित ने कहा, "लेकिन लौकिक विचारों से मन को व्याप्त होने देने की अपेक्षा ईश्वर के विचारों से उसे व्याप्त होने देना क्या अधिक श्रेयस्कर नहीं है?"

हम जैसा विचार करते हैं वैसे बन जाते हैं। हम किसका विचार करते हैं, इस बात का कोई महत्त्व नहीं है, वास्तविक महत्त्व तो अपनी विचार-प्रक्रिया के आकलन का है। हम ईश्वर का विचार करते हैं या मदिरा का, इस बात का कोई महत्त्व नहीं है। इन दोनों विचारों का अपना-अपना विशिष्ट परिणाम निकलता ही है। लेकिन इन दोनों प्रकारों द्वारा विचार स्वयं ही प्रक्षेपित की हुई कल्पना से व्याप्त हो जाता है। सारी कल्पनाएं, सारे ध्येय, सारे साध्य विचार के ही प्रक्षेप और विस्तार हैं। स्वयंनिर्मित प्रक्षेपों से, फिर वे किसी भी स्तर के हों, मन को व्याप्त कर लेने का अर्थ है अहं की पूजा करना। अहं अथवा आत्मा विचार का ही विक्षेप है। जिस बात से विचार व्याप्त हुआ होगा, वही मनुष्य का स्वरूप हो जाता है। और उसका यह जो स्वरूप है, वह भी विचार-विकल्पन के अतिरिक्त कुछ नहीं होता। इसलिए विचार की प्रक्रिया को समझना ही महत्त्व की बात है।

विचार जीवन की चुनौती को दिया जाने वाला उत्तर ही तो है। चुनौती नहीं होगी तो विचार ही उद्भूत नहीं होगा। यह चुनौती और उत्तर की प्रक्रिया ही अनुभव है। अनुभव का शब्दांकन ही विचार है। अनुभव केवल भूत का ही नहीं होता, बल्कि भूत का वर्तमान से संयोग होने के कारण भी अनुभव आकार धारण करता है। अनुभव सबोध स्वरूप की भाँति अबोध स्वरूप का भी होता है। अनुभवों का अवशेष है स्मृति यानी संस्कार-प्रभाव। इस स्मृति के द्वारा, इस भूतानुभव के द्वारा दिया जानेवाला उत्तर ही विचार है।

"पर क्या विचार का इतना ही अर्थ है? स्मृति के द्वारा दिया जानेवाला उत्तर ही विचार का स्वरूप है? इससे अधिक गहरे स्तर पर क्या विचार नहीं होता?"

विचार अपने को विभिन्न स्तरों पर प्रस्थापित करता रहता है—कभी बुद्धिहीन और उथले स्तर पर तो कभी सुबुद्ध, गहरे स्तर पर, कभी उदात्त स्तर पर तो कभी निकृष्ट स्तर पर। किसी भी स्तर पर हो, आखिर वह रहता तो विचार ही है। विचार द्वारा निर्मित ईश्वर मन और कल्पना द्वारा निर्मित ईश्वर ही होता है। वह केवल शब्दरूप ईश्वर है। ईश्वर का विचार ईश्वर नहीं है, वह ईश्वर के संबंध में केवल पूर्व स्मृति द्वारा दिया गया उत्तर है। स्मृति दीर्घकाल तक टिकने वाली होती है, इसलिए ऐसा भ्रम होता है कि वह गहरी है। लेकिन स्मृति की रचना ही ऐसी होती है कि वह गहरी हो ही नहीं सकती। इस कारण वह गहन नहीं हो पाती। विचार सदैव विचार ही रहता है। उसे सत्य की गहनता का स्पर्श तक नहीं हो सकता। विचार अपने को विशेष मूल्यवान मान सकता है, लेकिन अन्ततः वह रहता केवल विचार ही है। मन जब स्व-प्रक्षेपित बातों से व्याप्त हो जाता है, तब वह विचार के उस पार नहीं जाता, बल्कि वह एक नया रूप, नया चोगा धारण कर लेता है। इस नये आवरण में जो रहता है, वह भी केवल विचार ही होता है।

"तब विचार के पार मनुष्य कैसे जायेगा?"

वस्तुतः यह कोई महत्त्व का मुद्दा नहीं है। अहं का विचार के उस पार जाना सम्भव नहीं है। क्योंकि प्रयत्न करनेवाला जो अहं है, वह भी विचार का ही परिपाक है। विचार-प्रक्रिया का अन्तरंग उघाड़कर देखना ही आत्मज्ञान है, और यही आवश्यक है। ऐसा होने पर वास्तविकता के अन्तर्गत जो सत्य है, वह उजागर होता है और उसीसे विचार-प्रक्रिया का अन्त होता है। वास्तविक सत्य किसी भी पुरातन अथवा आधुनिक ग्रंथ में नहीं मिलेगा। ग्रंथों में केवल शब्द मिलते हैं, सत्य नहीं मिलता।

"फिर कोई सत्य का शोध कैसे करेगा?"

सत्य का शोध नहीं हो सकता। सत्य-शोधन के लिए किये जानेवाले प्रयत्न के कारण केवल एक स्व-विक्षेपित साध्य का निर्माण किया जाता है। लेकिन यह साध्य सत्य नहीं होता। सत्य किसी की निष्पत्ति या किसी का परिणाम नहीं होता। परिणाम विचार का ही सातत्यरूप होता है, फिर वह विस्तारित हो या प्रक्षेपित।

विचार का जब अन्त होता है, तभी सत्य का दर्शन होता है। बलप्रयोग द्वारा, कठोर अनुशासन द्वारा अथवा किसी भी प्रकार के प्रतिकार द्वारा विचार का अन्त नहीं होता। जो वास्तविक है, उसकी कहानी शान्तिपूर्वक सुनते रहने से ही उससे मुक्ति मिलती है। मुक्त होने का प्रयत्न कभी मुक्ति नहीं दिला सकता, केवल सत्य के दर्शन से ही मुक्ति मिलती है।●

कृष्णमूर्ति फ़ाउंडेशन (इंडिया), राजघाट, वाराणसी, द्वारा प्रकाशित जीवन-भाष्य भाग 1 से साभार संकलित। अनुवादक हैं श्री जमनालाल जैन।

भारतीय आध्यात्मिकता और जीवन

श्री अरविन्द

श्री अरविन्द क्रान्तदर्शी ऋषि थे। पश्चिम की वैचारिक परम्परा का उन्होंने गंभीर अध्ययन किया था, इसलिये उसकी सीमाओं को वे स्पष्ट रूप से देख सके थे। उनकी पैनी दृष्टि ने स्पष्ट देखा कि मानवजाति की वर्तमान समस्याओं का समाधान और उसका भावी विकास प्राचीन भारत के वैचारिक आधार को स्वीकार करके ही सम्भव है। सक्रिय राजनीति के नेतृत्व को छोड़कर वे पुदुच्चेरी में साधना में, और अपने शिष्यों का मार्ग-दर्शन करने में लग गए। उन्होंने अनेक पुस्तकें लिखीं जिनमें द लाइफ़ डिवाइन, द सिन्थेसिस ऑफ़ योग, और सावित्री प्रसिद्ध हैं। यहाँ प्रस्तुत अंश उनकी पुस्तक भारतीय संस्कृति के आधार से संकलित है।

भारतीय धर्म ने मानव-जीवन के सामने चार आवश्यक बातों को रखा।

सर्वप्रथम, इसने मन में सत्ता की एक ऐसी उच्चतम चेतना या अवस्था पर विश्वास रखने पर बल दिया जो विश्वव्यापी और विश्वातीत है, जिससे सब कुछ प्रादुर्भूत होता है, जिसमें सब कुछ इसे बिना जाने ही रहता और गति करता है, और जिसे एक दिन सब अवश्य जान लेंगे जब वे उसकी ओर मुड़ेंगे जो पूर्ण, सनातन और अनंत है।

दूसरे, इसने व्यक्ति के जीवन के सामने विकास और अनुभव के द्वारा अपने आपको तैयार करने की आवश्यकता को रखा जिससे कि अन्त में मनुष्य इस महत्तर सत्ता के सत्य में विकसित होने के लिए प्रस्तुत हो जाए।

तीसरे, इसने मनुष्य को ज्ञान और आध्यात्मिक या धार्मिक साधना का एक सुप्रतिष्ठित, सुपरीक्षित, शाखा-प्रशाखाओं से युक्त और सदा विस्तृत होनेवाला मार्ग प्रदान किया।

और अन्त में, जो लोग अभी इन उच्चतर सोपानों के लिए तैयार नहीं हैं उनके लिए इसने वैयक्तिक और सामूहिक जीवन की एक व्यवस्था, व्यक्तिगत और सामाजिक अनुशासन और आचार-व्यवहार का एक ढाँचा प्रस्तुत किया, जिसके द्वारा उनमें से प्रत्येक अपनी सीमाओं के भीतर और अपनी प्रकृति के अनुसार महत्तर जीवन की ओर प्रगति करने में समर्थ हो।

इनमें से पहली तीन बातें प्रत्येक धर्म के लिए अत्यंत अनिवार्य हैं, परन्तु हिन्दू धर्म ने अंतिम को सदैव अत्यधिक महत्त्व दिया है। उसने जीवन के किसी भी अंग को एकदम लौकिक तथा धार्मिक और आध्यात्मिक जीवन के लिए विजातीय वस्तु कहकर अपने क्षेत्र से बाहर नहीं छोड़ा है।

तथापि भारतीय धार्मिक परम्परा केवल एक सामाजिक प्रणाली का रूपमात्र नहीं है। हिंदू धर्म का सार-मर्म आध्यात्मिक अनुशासन है, सामाजिक अनुशासन नहीं। सचमुच ही हम देखते हैं कि सिक्ख धर्म को भी वैदिक परिवार में गिना गया, यद्यपि उसने प्राचीन सामाजिक परम्पराओं को तोड़कर एक नई रीति-नीति का आविष्कार किया दूसरी ओर जैनों और बौद्धों को परम्परा की दृष्टि से धार्मिक घेरे के बाहर समझा गया यद्यपि वे हिन्दुओं की सामाजिक आचार-नीति का पालन करते थे और हिंदुओं के साथ विवाह आदि का संबंध भी रखते थे, क्योंकि उनकी आध्यात्मिक प्रणाली एवं शिक्षा अपने मूल में वेद के सत्य का निषेध और वैदिक परम्परा का व्यतिक्रम करती प्रतीत होती थी। हिंदूधर्म का निर्माण करनेवाले इन चारों अंगों के विषय में विभिन्न मतों, संप्रदायों, समाजों और जातियों के हिंदुओं के बीच

छोटे-बड़े भेद अवश्य हैं, किंतु फिर भी मूल भावना, मूलभूत आदर्श और आचार तथा आध्यात्मिक मनोभाव में एक व्यापक एकता भी है जो इस विशाल विविधता के अंदर संयोग की एक अपरिमित शक्ति तथा एकत्व के एक प्रबल सूत्र को उत्पन्न करती है।

समस्त भारतीय धर्म का मूल विचार एक ऐसा विचार है जो सर्वोच्च मानव चिन्तन में सर्वत्र समान रूप से पाया जाता है। इस लोक में जो कुछ भी है उस सबका परम सत्य है एक '**पुरुष**' या एक '**सत्**'। यहाँ हम जिन मानसिक और भौतिक रूपों के सम्पर्क में आते हैं वह उन सबसे परे है। मन, प्राण और शरीर से परे एक आध्यात्मिक सत्ता एवं आत्मा है, जो सभी सान्त वस्तुओं को और अनन्त को अपने अंदर धारण किये हुए है। सभी सापेक्ष वस्तुओं से अतीत एक परम निरपेक्ष सत्ता है जो सभी नश्वर पदार्थों को उत्पन्न और धारण करती है। वही एकमेव सनातन है, एकमेव परात्पर, विश्वव्यापी, आदि और शाश्वत भगवान या दिव्य शक्ति **सत्, चित्, आनन्द** ही वस्तुओं का आदि स्रोत, आधार और अंतर्वासी है।

जीव, प्रकृति और जीवन इस चिन्मय सनातन की एक अभिव्यक्ति या इसका एक आंशिक रूपमात्र है। परन्तु सत्ता के इस सत्य को भारतीय मन ने बुद्धि के द्वारा चिन्तित केवल एक दार्शनिक कल्पना, धार्मिक सिद्धान्त या अमूर्त तत्त्व के रूप में ही नहीं ग्रहण किया था। यह कोई ऐसा विचार नहीं था जिससे विचारक अपने अध्ययन के समय तो संलग्न रहे पर दैनिक जीवन के साथ जिसका कोई क्रियात्मक संबंध न हो। यह तो एक जीवन्त आध्यात्मिक सत्य था, एक सत्ता, शक्ति एवं उपस्थिति थी जिसकी खोज सभी लोग अपनी क्षमता की मात्रा के अनुसार कर सकते थे, और जिसे जीवन के द्वारा तथा जीवन के परे सहस्रों मार्गों से गृहीत कर सकते थे।

इस सत्य को जीवन में चरितार्थ करना और यहां तक कि विचार, जीवन तथा कर्म को परिचालित करनेवाली प्रमुख भावना बनाना होता था। सब रूपों के पीछे विद्यमान किसी परम वस्तु या परम पुरुष को इस प्रकार स्वीकार करना और खोजना ही भारतीय धर्म का एकमात्र सार्वजनीन मूलमंत्र रहा है। यदि इसने सैकड़ों आकार ग्रहण कर लिये हैं तो इसका कारण ठीक यही है कि यह इतना अधिक जीवन्त था। केवल अनन्त ही सान्त की सत्ता की सार्थकता सिद्ध करता है। सान्त अपने आप में कोई पूर्णतः पृथक् मूल्य या स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रखता।

जीवन एक दिव्य लीला है, अथवा वह एक साधन है जिसके द्वारा, अगणित रूपों और अनेक जीवनों के द्वारा, जीव प्रेम, ज्ञान, श्रद्धा, उपासना और कर्मगत संकल्प के बल पर इस परात्पर पुरुष और इस अनन्त सत्ता के पास पहुँच सकता है। इसे स्पर्श और अनुभव कर सकता है, तथा इसके साथ एकत्व प्राप्त कर सकता है। यह दिव्य आत्मा या यह स्वयंभू पुरुष ही एकमात्र परम सद्वस्तु है, और अन्य सभी चीज़ें या तो प्रतीतियाँ मात्र हैं या उस पर आश्रित होने के कारण ही वास्तविक हैं।

इससे यह परिणाम निकलता है कि आत्मोपलब्धि और ईश्वरोपलब्धि ही जीवनधारी और विचारशील मनुष्य का महान कार्य है। समस्त जीवन और विचार अंततोगत्वा आत्मोपलब्धि और ईश्वरोपलब्धि की ओर प्रगति करने के साधन हैं।

भारतीय धर्म ने परम-सत्यसंबंधी बौद्धिक या पारमार्थिक विचारों को कभी एकमात्र केन्द्रीय महत्त्व की वस्तु नहीं समझा। किसी भी विचार या किसी भी आकार के रूप में उस सत्य का अनुसरण करने, आन्तरिक अनुभूति के द्वारा उसे प्राप्त करने, और चेतना में उसके अंदर निवास करने को ही वह एकमात्र आवश्यक वस्तु मानता था।

एक मत या सम्प्रदाय मनुष्य की वास्तविक आत्मा को विश्वात्मा या परमात्मा के साथ अविभाज्य रूप में एक समझ सकता था। दूसरा मत सारतत्त्व में तो भगवान् के साथ एक, पर प्रकृति में उससे भिन्न मान सकता था। तीसरा ईश्वर, प्रकृति और जीवात्मा को सत्ता की तीन नित्य-भिन्न शक्तियों के रूप में स्वीकार कर सकता था। परन्तु सबके लिए आत्मा का सत्य एकसमान अचल, अटल था, क्योंकि भारतीय द्वैतवाती के लिए भी ईश्वर ही परम आत्मा और सद्वस्तु है जिसमें और जिसके द्वारा प्रकृति और मनुष्य रहते, चलते फिरते और अस्तित्व रखते हैं। यदि तुम ईश्वर को बाहर निकाल दो तो प्रकृति और मनुष्य का कुछ भी अर्थ और महत्त्व नहीं रह जाएगा।

विश्वात्मा, विश्व प्रकृति (चाहे उसे माया कहा जाए अथवा प्रकृति या शक्ति) और जीवधारी प्राणियों में विद्यमान अन्तरात्मा, अर्थात् जीव– ये तीन सत्य हैं जिन्हें भारत के सबके सब धार्मिक सम्प्रदाय और परस्पर

विरोधी धार्मिक दर्शन सर्वसामान्य रूप से अंगीकार करते हैं। इस बात को भी सभी स्वीकार करते हैं कि ईश्वर या परमात्मा या सनातन ब्रह्म के साथ मनुष्य की अंतरात्मा का पूर्ण एकत्व ही आध्यात्मिक सिद्धि प्राप्त करने की शर्त है।

उस विश्वातीत और विश्वव्यापी सनातन 'पुरुष' के पास पहुँचने का हमारा तरीका चाहे कोई भी क्यों न हो, आध्यात्मिक अनुभव का एकमात्र प्रधान सत्य यह है कि भगवान सभी प्राणियों के हृदय और केन्द्र में विराजमान हैं और सभी प्राणी उनके अंदर अवस्थित हैं, और उन्हें प्राप्त करना ही मनुष्य की महान आत्म उपलब्धि है।

धर्ममत-संबंधी विश्वासों के मतभेद भारतीय मन के लिए सबमें विद्यमान एक ही आत्मा और परमेश्वर को देखने के अलग-अलग तरीकों से अधिक कुछ नहीं हैं। आत्म-साक्षात्कार ही एकमात्र आवश्यक वस्तु है। अंतरस्थ परमात्मा की ओर खुलना, अनंत में निवास करना, सनातन को खोजना और उपलब्ध करना, भगवान के साथ एकत्व प्राप्त करना– यही धर्म का सर्वसामान्य विचार और लक्ष्य है, यही आध्यात्मिक मोक्ष का अभिप्राय है, यही वह जीवन्त सत्य है जो पूर्णता और मुक्ति प्रदान करता है। उच्चतम आध्यात्मिक सत्य और उच्चतम आध्यात्मिक लक्ष्य का यह क्रियात्मक अनुसरण ही भारतीय धर्म का एकीकारक सूत्र है और यही, उसके सहस्रों रूपों के पीछे, उसका एक अभिन्न और सर्वसामान्य सारतत्त्व है।

> सब रूपों के पीछे विद्यमान किसी परम वस्तु या परम पुरुष को इस प्रकार स्वीकार करना और खोजना ही भारतीय धर्म का एकमात्र सार्वजनीन मूलमंत्र रहा है। यदि इसने सैकड़ों आकार ग्रहण कर लिये हैं तो इसका कारण ठीक यही है कि यह इतना अधिक जीवन्त था। केवल अनन्त ही सान्त की सत्ता की सार्थकता सिद्ध करता है।

यदि भारत जाति की आध्यात्मिक प्रतिभा के, या आध्यात्मिक संस्कृति के रूप में अग्रपंक्ति में स्थित होने के भारतीय सभ्यता के दावे के समर्थन में कहने के लिए और कुछ न भी हो तो भी इस एक ही तथ्य से काफी हद तक प्रतिपादित हो जाएगा कि इस महत्तम और व्यापकतम आध्यात्मिक सत्य को भारत में नितान्त साहसपूर्ण विशालता के साथ देखा गया है। केवल इतना ही नहीं, उस सत्य को अनुपम तीव्रता के साथ अनुभव और प्रकट ही नहीं किया गया, तथा सब सम्भव पहलुओं से केवल इस पर विचार ही नहीं किया गया, अपितु इसे सचेतन रूप से जीवन का एक महान उन्नायक विचार, समस्त धर्म का आधार और मानवजीवन का चरम लक्ष्य भी बनाया गया।

जिस परम सत्य की घोषणा की गई वह भारतीय चिन्तन की कोई निराली विशेषता नहीं है। सभी जगह के उच्चतम मनीषियों और महात्माओं ने उसका साक्षात्कार और अनुसरण किया है। परन्तु अन्यत्र वह केवल कुछ-एक विचारकों या किन्हीं विरले रहस्यवादियों का ही जीवन्त मार्गदर्शक रहा है। जनसाधारण को इस 'परात्पर' कुछ का कोई बोध या स्पष्ट अनुभव नहीं प्राप्त हुआ, इसकी किसी छाया की झलक भी नहीं मिली। वे धर्म के केवल निम्नतर साम्प्रदायिक पहलू में, देवता-विषयक हीनतर विचारों में या जीवन के बाह्य पार्थिव रूपों में ही निवास करते रहे। परन्तु अन्य किसी संस्कृति ने जो कार्य नहीं किया है उसे करने में भारतीय संस्कृति अपनी दृष्टि की तेजस्विता, अपने दृष्टिकोण की व्यापकता, अपनी जिज्ञासा की तीव्रता के कारण अवश्य सफल हुई। वह धर्म पर वास्तविक आध्यात्मिकता के मुख्य आदर्श की छाप लगाने में कृतकार्य हुई, वह धार्मिक क्षेत्र के प्रत्येक भाग में ठेठ उच्चतम आध्यात्मिक सत्य का कुछ सजीव प्रतिबिम्ब और उसके प्रभाव की कुछ प्राणधारा अवश्य ले आई।

इस कथन से बढ़कर असत्य और कोई बात नहीं हो सकती कि भारत के सामान्य धार्मिक मन ने भारतीय धर्म के उच्चतर आध्यात्मिक या दार्शनिक सत्यों को बिलकुल नहीं समझा है। यह कहना एकदम भूल है कि वह सदा केवल रीति-रस्म, मत-विश्वास और प्रथा-परम्परा रूपी बाह्याचारों में ही निवास करता रहा है। इसके विपरीत, भारतीय धार्मिक दर्शन के मुख्य दार्शनिक सत्य अपने विशाल भावनात्मक रूपों में या अपने गंभीर काव्यमय एवं ओजस्वी वर्णन के रूप में भारतवासियों के साधारण मन पर अंकित हैं। माया, लीला एवं भगवान के अंतर्यामित्व से संबंध रखनेवाले विचार एक साधारण मनुष्य एवं मंदिर के पुजारी को भी उतने ही ज्ञात हैं जितने कि एकांतसेवी दार्शनिक को, मठवासी संन्यासी और कुटीवासी सन्त को। जिस आध्यात्मिक सत्य को वे प्रतिभासित करते हैं, जिस गंभीर अनुभूति की ओर वे संकेत करते हैं वह यहाँ सम्पूर्ण जाति के धर्म, साहित्य,

कला और यहां तक कि प्रचलित धार्मिक गानों में भी व्यापी हुई है।

यह सच है कि इन चीज़ो को सर्वसाधारण लोग चिन्तन के अनथक प्रयत्न की अपेक्षा कहीं अधिक भक्ति के उत्साह के द्वारा ही अधिक सहज रूप में अनुभव करते हैं। परन्तु यह तो होना स्वाभावक है क्योंकि मनुष्य की बुद्धि की अपेक्षा उसका हृदय सत्य के अधिक निकट है। यह भी सच है कि बाह्य अनुष्ठानों पर अत्यधिक बल देने की प्रवृत्ति सभी स्थानों और कालों में विद्यमान रही है और इसने गंभीरतर आध्यात्मिक हेतु को आच्छन्न करने की चेष्टा की है, किन्तु यह केवल भारत की ही निजी विशेषता नहीं है, यह तो मानव प्रकृति का एक सार्वभौम दोष है जो यूरोप में एशिया से कम नहीं वरन कहीं अधिक स्पष्ट रूप से पाया जाता है। इसी कारण वास्तविक सत्य को सजीव बनाए रखने और आचार, अनुष्ठान, रीति-नीति और कर्म कांड के निर्जीव बनानेवाले बोझ का प्रतिरोध करने के लिए विचारकों की अविच्छिन्न परम्परा तथा आलोक-प्राप्त संन्यासियों की शिक्षा की आवश्यकता रही है। यह भी तथ्य है कि आत्मा के इन संदेशवाहकों का कभी अभाव नहीं रहा। और इससे अधिक महत्त्वपूर्ण यह तथ्य भी विद्यमान है कि सर्वसाधारण के मन में उनके संदेश को सुनने की प्रसन्नतापूर्ण तत्परता रही है।

सभी स्थानों की तरह भारत में भी बहिर्मुख मन वाले लोगों की अधिकता है। परन्तु कम से कम भारत के निवासियों में, यहाँ तक कि 'अज्ञानी जनसाधारण' में भी यह विशेषता है कि सदियों के शिक्षण के द्वारा वे और कहीं की भी साधारण जनता या सुसंस्कृत श्रेष्ठ जनों की अपेक्षा आंतरिक सत्यों के अधिक निकट हैं। उनके और परम सत्य के बीच विश्वगत अविद्या का अपेक्षाकृत कम मोटा पर्दा है। वे भगवान एवं अध्यात्म-सत्ता, आत्मा एवं नित्य-सत्ता की जीवन्त झाँकी अधिक सुगमता से पुनः प्राप्त कर लेते हैं। बुद्ध की ऊँची, कठोर और कठिन शिक्षा भला और कहाँ सर्वसाधारण के मन पर इतनी तेज़ी से अधिकार कर पाती। और कहाँ किसी तुकाराम, रामप्रसाद, कबीर, तथा सिक्ख गुरुओं के गान, और प्रखर भक्ति के साथ गहरे आध्यात्मिक चिन्तन से युक्त तमिल संतों के गीत इतने वेग से गुंजायमान होकर लोकप्रिय धार्मिक साहित्य का रूप ले पाते? आध्यात्मिक प्रवृत्ति का यह प्रबल संचार, उच्चतम सत्य की ओर मुड़ने के लिए सम्पूर्ण राष्ट्र के मन की तत्परता एक वास्तविकता है, और उस परम आध्यात्मिक संस्कृति का चिह्न और फल है जो अभी तक जीवित है।•

जीवन एक दिव्य लीला है, अथवा वह एक साधन है जिसके द्वारा अगणित रूपों और अनेक जीवनों के द्वारा जीव प्रेम, ज्ञान, श्रद्धा, उपासना और कर्मगत संकल्प के बल पर इस परात्पर पुरुष और इस अनन्त सत्ता के पास पहुँच सकता है। इसे स्पर्श और अनुभव किया सकता है, तथा इसके साथ एकत्व प्राप्त किया सकता है। यह दिव्य आत्मा या यह स्वयंभू पुरुष ही एकमात्र परम सद्वस्तु है, और अन्य सभी चीज़ें या तो प्रतीतियाँ मात्र हैं या उस पर आश्रित होने के कारण ही वास्तविक हैं।

(**भारतीय संस्कृति के आधार** *पुस्तक से साभार संकलित। अनुवादक है श्री जगन्नाथ वेदालंकार और श्री चन्द्रदीप त्रिपाठी। प्रकाशक, श्री अरविन्द आश्रम, पुदुचेरि।*)

वैराग्य का थोड़ा-बहुत अंश लिए बिना कोई भी संस्कृति महान एवं पूर्ण नहीं हो सकती; क्योंकि वैराग्य का अर्थ है आत्म-त्याग और और आत्म-विजय जिनके द्वारा मनुष्य अपने निम्न आवेगों का दमन करके अपनी प्रकृति का महत्तर शिखरों की ओर आरोहण करता है। भारतीय वैराग्यवाद न तो दुःख की विषादपूर्ण शिक्षा है और न अस्वास्थ्यकर कष्टदायी साधना के द्वारा शरीर का दुःखदायी निग्रह है। अपितु वह तो आत्मा के उच्चतर हर्ष एवं पूर्ण स्वामित्व की प्राप्ति के लिए एक उदात्त प्रयत्न है।

श्री अरविन्द

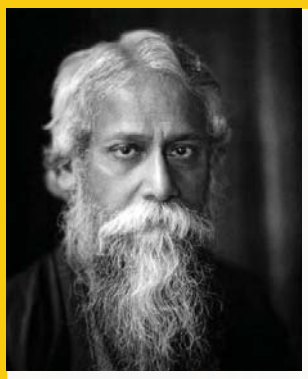

तपोवन

रवीन्द्र नाथ टैगोर

आधुनिक सभ्यता की लक्ष्मी का आसन जिस कमल पर विराजमान है वह ईंट और लकड़ी का बना है। वह कमल है नगर! उन्नति का सूर्य जैसे-जैसे आकाश में ऊपर उठता है, इस विशाल कमल की पंखुड़ियाँ खिल-खिल कर चारों ओर व्याप्त हो जाती हैं। इस चूने-गारे के विस्तार को रोकना पृथ्वी के लिए असम्भव-सा हुआ जा रहा है।

आज का मानव नगर में ही विद्यार्जन करता है और विद्या का प्रयोग करता है; धन कमाता है और धन का व्यय करता है; तरह-तरह से अपनी शक्ति-सम्पदा बढ़ाने का यत्न करता है। आज की सभ्यता के पास जो कुछ भी श्रेष्ठ पदार्थ है, सब नगर की सामग्री है।

वास्तव में ऐसा होना स्वाभाविक ही है। जहाँ बहुत-से लोग एक-दूसरे से मिलते हैं वहाँ बुद्धि की विविध प्रवृत्तियों के संघात से चित्त जागरित होता है। चारों ओर की टकराहट से प्रत्येक व्यक्ति की शक्ति गतिशील हो जाती है। इस तरह चित्त-समुद्र के मन्थन से मानव-जीवन का सार-पदार्थ अपने-आप ऊपर उठकर बह निकलता है।

फिर जब मनुष्य की शक्ति जाग उठती है तो वह एक ऐसा क्षेत्र ढूँढ़ती है जहाँ अपने आपको व्यक्त करने में सफल हो सके। ऐसा क्षेत्र कहाँ है? वहीं, जहाँ बहुत-से लोग, विविध प्रयासों में लीन, अनेक दिशाओं से सृष्टिशील और सचेष्ट हों—अर्थात् नगर में।

जब लोग पहले-पहल एक स्थान पर जमा होकर नगर बसाते हैं तो उनकी यह रचना सभ्यता के आकर्षण से नहीं होती। होता यह है कि शत्रु के आक्रमण से बचने के लिए लोग किसी सुरक्षित स्थान पर एकत्रित होना आवश्यक समझते हैं। पर कारण जो कुछ भी हो, जहाँ भी अनेक मनुष्य एक स्थान पर साथ-साथ रहने लगते हैं वहाँ उनके प्रयोजन और बुद्धि को एक विशिष्ट रूप मिल जाता है और सभ्यता की अभिव्यक्ति होने लगती है। लेकिन भारतवर्ष में आश्चर्यजनक बात देखी गई। यहाँ सभ्यता का मूल स्रोत नगर में नहीं, बल्कि वन में था। सर्वप्रथम जब भारतीय सभ्यता का विकास हुआ, लोग एक-दूसरे से बिलकुल सटकर नहीं बैठे। उन्होंने भीड़ नहीं जमाई। यहाँ वृक्ष, नदी, सरोवर का मनुष्य के साथ योग बना रहा। यहाँ मनुष्य भी था, निर्जन स्थान भी था, निर्जनता से भारत का चित्त जड़ नहीं हुआ, वरन उसकी चेतना और भी उज्ज्वल हो उठी। हम कह सकते हैं कि शायद दुनिया में और कहीं ऐसा नहीं हुआ होगा।

हम देखते हैं कि जो लोग परिस्थितिवश जंगलों में आबद्ध हो जाते हैं उनकी प्रवृत्तियाँ वन्य हो जाती हैं—या तो वे शेर की तरह हिंस्र हो जाते हैं, या हिरन की तरह भोले-भाले। लेकिन प्राचीन भारत में वन की विजनता ने मानवीय बुद्धि को पराजित नहीं किया, वरन एक ऐसी शक्ति प्रदान की जिससे उस वनवास-जन्य सभ्यता की धारा ने सारे भारत को अभिषिक्त किया। आज भी उस धारा का प्रवाह रुका नहीं है।

इस तरह उन अरण्य-वासियों की साधना से भारत को वह सामर्थ्य मिली—वह ऊर्जा मिली जिसका स्रोत न तो बाह्य संघात में था, न इच्छाओं की प्रतियोगिता में। इसलिए वह शक्ति मुख्यतः बहिर्मुखी नहीं है। उसने विश्व के साथ अपनी आत्मा का योग स्थापित किया है। भारत ने अपनी सभ्यता का परिचय मुख्य रूप से ऐश्वर्य के उपकरणों के द्वारा नहीं दिया। इस सभ्यता के कर्णधार अरण्य-निवासी, अल्पवसन तपस्वी थे।

समुद्र-तट ने जिस देश का पालन किया उसे वाणिज्य-सम्पदा प्रदान की। मरुभूमि ने जिन लोगों को क्षुधित रखा वे दिग्विजयी हुए। इसी तरह विशेष

परिस्थितियों के अनुसार मनुष्य की शक्ति को विभिन्न पथ मिले। समतल आर्यावर्त की अरण्यभूमि ने भारत को भी एक विशेष सुयोग दिया। भारत की बुद्धि को उसने यह प्रेरणा दी कि जगत् के अंतरतम रहस्य का संधान करे। उस बुद्धि ने जिस सम्पदा को संचित किया उसे सारी मानव-जाति को स्वीकार करना होगा।

औषधि-वनस्पति के बीच प्रकृति की प्राण-शक्ति प्रत्येक ऋतु में दिन-रात व्यक्त होती है। यह प्राण-लीला अद्भुत भंगिमा में, ध्वनि और रूप-**वैचित्र्य** में, निरंतर नये-नये भाव से प्रकाशित होती है। इसी प्राण-लीला के बीच ध्यान-परायण रहने वाले लोगों ने अपने चारों ओर एक आनन्दमय रहस्य को उपलब्ध किया था। इसलिए वे इतनी सरलता से कह सके—'**यदिदं किंच सर्वं प्राणादेजति निःसृतम्**' जो कुछ भी है—परम-प्राण से निःसृत होकर प्राण के बीच गतिशील है। वे लोग ईंट, लकड़ी और लोहे का कठोर पिंजरा बनाकर उसमें आबद्ध नहीं हुए थे। वे जहाँ रहते थे वहाँ विश्व-व्यापी विराट् जीवन के साथ उनके जीवन का अबाधित योग था। वन ने उन्हे छाया दी, फल-फूल दिये, कुश और यज्ञ सामग्री दी। उनके दैनंदिन कर्म, अवकाश और प्रयोजन के साथ वन का आदान-प्रदान था, जीवित सम्बन्ध था। इसी साधन से वे अपने जीवन को चारों ओर के महान जीवन के साथ युक्त करके जान सके। परिवेश को उन्होने शून्य, निर्जीव या पृथक् नहीं समझा। अपने सहज अनुभव से उन्होने जाना कि विश्व-प्रकृति से वे जो कुछ भी ग्रहण करते थे— आलोक, वायु, अन्न, जल आदि—वह दान मिट्टी का नहीं था, वृक्ष का नहीं था, शून्य आकाश का नहीं था, वरन एक चेतनामय अनंत आनन्द के बीच उस दान का मूल स्रोत था। इसीलिए उन्होंने उस प्रकाश और अन्न-जल को श्रद्धा और भक्ति के साथ स्वीकार किया। विश्व चराचर को अपने प्राण, चेतना, हृदय और बुद्धि के द्वारा अपनी आत्मा के साथ संयुक्त करना ही भारत की उपलब्धि रही है।

इससे हम देख सकते हैं कि वन ने भारत के चित्त का अपनी शान्त छाया में, अपने निगूढ़ प्राण में, किस तरह पालन किया है। भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास के दो बड़े युग हैं—वैदिक युग और बौद्ध युग। इन दोनों युगों में वन ने भारत के लिए 'धात्री रूप' धारण किया था। वैदिक ऋषियों ने ही नहीं, भगवान बुद्ध ने भी कितने ही आम्रवनों और वेणुवनों में उपदेश किया। राजप्रासाद उनके लिए इष्ट नहीं था, वनभूमि ने ही उन्हें अपनी गोद में जगह दी।

क्रमशः भारत में राज्य-साम्राज्य और नगर-नगरी की स्थापना हुई। देश-विदेश के साथ उसका वाणिज्य आरम्भ हुआ। अन्न-लोलुप खेतों ने धीरे-धीरे छायादार जंगलों को दूर हटा दिया। परन्तु प्रतापशाली, ऐश्वर्यपूर्ण, यौवनोद्धत भारतवर्ष वन के प्रति अपना ऋण स्वीकार करने में कभी लज्जित नहीं हुआ। भारत में तपस्या को अन्य सभी प्रयासों से अधिक सम्मान मिला है। यहाँ के राजा-महाराजाओं ने भी प्राचीन काल के वनवासी तपस्वियों को आदि पुरुष मानकर गौरव का अनुभव किया है। पौराणिक कथाओं में जो कुछ आश्चर्यजनक है, पवित्र है, जो कुछ श्रेष्ठ और पूजनीय है, वह प्राचीन तपोवनों की स्मृति से विजड़ित है। बड़े-बड़े राजाओं के वैभव की बातें स्मरण रखने की चेष्टा भारत ने नहीं की। लेकिन वन की सामग्री को अपने प्राण की सामग्री मानकर विविध संघर्षों के बीच आजतक उसने वहन किया है। मानवीय इतिहास में यही भारत की विशेषता है।

भारत में जब विक्रमादित्य सम्राट् थे, उज्जयिनी महानगरी थी, कालिदास महाकवि थे, उस समय तपोवन का युग समाप्त हो चुका था। मानवजाति के विशाल मेले में हम खड़े थे। चीनी, हूण, ईरानी, ग्रीक और रोमक- सभी ने आकर हमारे चारों ओर भीड़ लगाई थी। किसी समय जनक-जैसे राजा एक ओर अपने हाथ से हल चलाकर खेती करते थे और दूसरी ओर देश-देशांतर से आये हुए ज्ञान-पिपासु लोगों को ब्रह्मविद्या सिखाते थे। लेकिन कालिदास के युग में ऐसे दृश्य नहीं दिखाई पड़ते थे। फिर भी उस ऐश्वर्यगर्वित-युग में उस समय के श्रेष्ठ कवि ने तपोवन का जैसा वर्णन किया है उसे देखने से हम समझ सकते हैं कि तपोवन हमारी दृष्टि से बाहर होने पर भी हमारे हृदय में विद्यमान था।

कालिदास विशेष रूप से भारतवर्ष के कवि हैं, यह बात उनके तपोवन-चित्रण से प्रमाणित होती है। ऐसे परिपूर्ण आनन्द के साथ तपोवन के ध्यान को क्या और भी कोई कवि मूर्त कर सका है?

'रघुवंश' काव्य में पर्दा उठते ही तपोवन का शान्त, सुन्दर, पवित्र दृश्य हमारी आँखों के सामने आता है। जंगल से तृण, काष्ठ, फल एकत्रित करके तपस्वीगण आते हैं, और एक अदृश्य अग्नि मानो उनकी अगवानी करती है। तपोवन के हिरण ऋषि-पत्नियों को संतान की तरह प्रिय हैं, 'नीवार' धान्य के दाने पाकर वे कुटिया के द्वार के सामने निःसंकोच पड़े रहते हैं। मुनि-कन्याएँ वृक्षों

को पानी देती हैं और जब थाले भर जाते हैं, वहाँ से अलग हो जाती हैं, जिससे पक्षीगण निःशंक होकर पानी पीने के लिए आ सकें। धान्य के ढेर कुटीर के आँगन में धूप में रखे हैं, और पास-ही हिरण लेटे-लेटे घास चबा रहे हैं। आहुति-कुंड से सुगंधित धुआँ उठ रहा है और हवा से बहकर वह अतिथियों के शरीर को पवित्र कर रहा है।

तरु, लता, पशु-पक्षी सबके साथ मनुष्य का पूर्ण मिलन—यही है इस वर्णन का आन्तरिक भाव।

समस्त 'अभिज्ञान-शाकुंतल' नाटक में तपोवन मानो राजप्रासाद की निष्ठुर भोग-लालसा का धिक्कार करता है। यहाँ भी मूल स्वर वही है— चेतन-अचेतन सबके साथ मनुष्य के आत्मीय सम्बन्ध का पवित्र माधुर्य।

'कादम्बरी' के कवि ने तपोवन का वर्णन यों किया है—जब हवा बहती है लताएँ सिर झुकाकर प्रणाम करती हैं; कुटीर के आँगन में हरा धान सुखाने के लिए फैला दिया गया है; आँवले, कदली, लवंग इत्यादि फल एकत्रित किये गए हैं; वन-कुक्कुट वैश्वदेव-बलिपिंड का भक्षण कर रहे हैं; निकटवर्ती सरोवर से कलहंस-शावक आकर नीवार-बलि खाते हैं; हरिणियाँ अपनी जिह्वाओं से मुनि-बालकों का शरीर प्रेम से चाटती हैं।

इस वर्णन के अन्तर्गत भी वही बात है। तरु-लता और जीव-जंतुओं के साथ मनुष्य का विच्छेद दूर करके तपोवन प्रकाशित होता है, यही प्राचीन विचार हमारे देश में बराबर व्यक्त हुआ है।

लेकिन यह भाव केवल तपोवन के चिह्नों में ही प्रकाशित हुआ हो ऐसी बात नहीं। हमारे देश के सभी प्रसिद्ध काव्यों में मनुष्य और विश्व-प्रकृति का मिलन परिस्फुट हुआ है। जो घटनाएँ मानव-चरित्र का आश्रय लेकर व्यक्त होती हैं उन्हीं को नाटक का प्रधान उपादान माना जाता है। इसलिए अन्य देशों के साहित्य में हम देखते हैं कि नाटकों में विश्व-प्रकृति का आभासमात्र मिलता है, उसे महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं दिया जाता। लेकिन हमारे देश के प्राचीन नाटकों में, जिनकी ख्याति आज तक सुरक्षित है, प्रकृति अपने अधिकार से वंचित नहीं होती।

मनुष्य जिस जगत्-प्रकृति से घिरा हुआ है उसका मनुष्य के चिंतन के साथ और उसके कार्य के साथ आंतरिक योग है। यदि मनुष्य का संसार नितान्त 'मनुष्यमय' हो उठे, यदि मनुष्य के पीछे-पीछे प्रकृति भी उसमें प्रवेश न कर सके, तो हमारे विचार और कर्म कलुषित तथा व्याधिग्रस्त होंगे, अपनी मलिनता के अथाह सागर में वे आत्महत्या कर बैठेंगे। प्रकृति हमारे बीच नित्य काम करते हुए भी यह दिखाती है कि वह चुपचाप खड़ी है, जैसे हम ही काम-काज में व्यस्त हों और वह बेचारी केवल अलंकार की वस्तु हो। लेकिन हमारे देश के कवियों ने प्रकृति को अच्छी तरह पहचाना है। प्रकृति मानव के समस्त सुख-दुःख में 'अनंत' का स्वर मिलाये रखती है। यह स्वर हमारे देश के प्राचीन काव्य में लगातार ध्वनित हुआ है।

विराट् प्रकृति में जिसका जो स्वाभाविक स्थान है उसे वहीं स्थापित करके देखा जाए तो प्रकृति की उग्रता नहीं रहती, लेकिन यदि प्रत्येक वस्तु को विच्छिन्न करके केवल मनुष्य की सीमा में संकीर्ण रूप से देखा जाए, तो प्रकृति व्याधि की तरह लगती है, उसका उत्तप्त और रक्तिम रूप दिखाई पड़ता है। शेक्सपियर के दो-एक खण्डकाव्य हैं जिनमें नर-नारी की आसक्ति का वर्णन है। वहाँ आसक्ति ही आसक्ति है, उसके चारों ओर किसी अन्य वस्तु के लिए स्थान नहीं है। यहाँ न आकाश है, न पवन। प्रकृति ने गीत-गंध-वर्ण के जिस विशाल आवरण से विश्व की समस्त लज्जा ढकी है उससे इस आसक्ति का कोई सम्पर्क नहीं है। इसीलिए इस तरह के काव्य में प्रवृत्तियों की उन्मत्तता अत्यन्त दुःसह रूप धारण करती है।

कालिदास के युग में भी भारत के सामने एक अत्यन्त उत्कट समस्या थी, जैसाकि हम उनके काव्यों को पढ़कर स्पष्ट देख सकते हैं। प्राचीन काल में हिन्दू समाज की जीवन-यात्रा में जो सरलता और संयम था वह नष्ट हो चुका था। राजा अपने राजधर्म को भूलकर सुखपरायण तथा भोगी हो गए थे। उधर शकों के आक्रमण से भारत की बार-बार दुर्गति हो रही थी।

किन्तु इस आमोद भवन के स्वर्णिम अंतःपुर में बैठकर काव्य-लक्ष्मी विकल चित्त से किसके ध्यान में निमग्न थी? उसका हृदय तो वहाँ था ही नहीं। वह इस विचित्रशिल्प-मंडित, हीरे-जैसे कठिन कारागार से मुक्ति की कामना कर रही थी।

कालिदास के काव्यों में 'बाहर' के साथ 'भीतर' का, 'आकांक्षा' के साथ 'अवस्था' का द्वन्द्व दिखाई पड़ता है। भारतवर्ष में तपस्या का युग बीत चुका था; और ऐश्वर्यशाली राज-सिंहासन के पास बैठकर कवि उसी निर्मल, सुदूर अतीत काल की ओर वेदना-भरी दृष्टि से देख रहा था। . . .

'रघुवंश' का आरम्भ राजोचित ऐश्वर्य के गौरवमय

वर्णन से नहीं होता। सुदक्षिणा को साथ लेकर राजा दिलीप तपोवन में प्रवेश करते हैं। चारों समुद्रों तक जिनके शासन का विस्तार था ऐसे राजा अविकल निष्ठा और कठिन संयम से तपोवन की गौ की सेवा में लग जाते हैं। 'रघुवंश' का आरम्भ है संयम और तपस्या में, और उसका उपसंहार है आमोद-प्रमोद, सुरापान और इन्द्रिय-भोग में। इस अन्तिम सर्ग में जो चित्र है उसमें काफी चमक-दमक है, लेकिन जो अग्नि नगर को जलाकर सर्वनाश लाती है वह भी कम उज्ज्वल नहीं है। एक पत्नी के साथ दिलीप का तपोवन-निवास सौम्य और हल्के रंगों में चित्रित है; अनेक नायिकाओं के साथ अग्नि-वर्ण का आत्म-विनाश का जीवन अत्यन्त स्पष्ट रूप से, विविध रंगों, और ज्वलन्त रेखाओं से अंकित किया गया है।

काव्य के इस आरम्भ और अन्त में कवि के हृदय की बात प्रच्छन्न है। ऐसा लगता है कि वह दीर्घ निश्वास के साथ कह रहा है, "क्या था और क्या हो गया! जब अभ्युदय का युग था उस समय हम तपस्या को ही प्रधान ऐश्वर्य समझते थे। और आज, जबकि हमारा विनाश समीप है, भोग-विलास के उपकरणों का अन्त नहीं। भोग की अतृप्त अग्नि सहस्र दिशाओं में भड़क रही है और आँखों को चकाचौंध कर रही है।"

कालिदास की अधिकांश कविताओं यह द्वन्द्व स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। त्याग और भोग के सामंजस्य में ही पूर्ण शक्ति है। किसी एक संकीर्ण स्थान पर जब हम अपने अहंकार और वासना को केन्द्रित कर देते हैं तब हम समग्र को क्षति पहुंचाते हैं, और अंश को बढ़ा-चढ़ाकर देखने का प्रयत्न करते हैं। यही अमंगल की जड़ है। अंश के प्रति आसक्ति हमें समग्र के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए प्रेरित करती है, और यही पाप है।

इसीलिए त्याग आवश्यक है। यह त्याग अपने को रिक्त करने के लिए नहीं, अपने को पूर्ण करने के लिए होता है। हमें समग्र के लिए अंश का त्याग करना है, नित्य के लिए क्षणिक का, प्रेम के लिए अहंकार का, आनन्द के लिए सुख का त्याग करना है। इसीलिए उपनिषद् में कहा गया है— **त्यक्तेन भुंजीथाः** — त्याग के द्वारा भोग करो, आसक्ति के द्वारा नहीं।

त्याग आवश्यक है। यह त्याग अपने को रिक्त करने के लिए नहीं, अपने को पूर्ण करने के लिए होता है। हमें समग्र के लिए अंश का त्याग करना है, नित्य के लिए क्षणिक का, प्रेम के लिए अहंकार का, आनन्द के लिए सुख का त्याग करना है। इसीलिए उपनिषद् में कहा गया है— **त्यक्तेन भुंजीथाः** — त्याग के द्वारा भोग करो, आसक्ति के द्वारा नहीं।

उपनिषद् का अनुशासन त्याग का दुःख रूप में अंगीकार करना नहीं है, बल्कि त्याग को भोगरूप में वरण करना है। जिस त्याग की चर्चा उपनिषद् में है वही पूर्णतर ग्रहण है, गम्भीरतर आनन्द है। वह त्याग है विश्व के साथ योग, भूमा के साथ मिलन।

भारतवर्ष का आदर्श तपोवन वह अखाड़ा नहीं है जहाँ शरीर और आत्मा का, संसार और संन्यास का मल्लयुद्ध होता रहे। **यत्किंच जगत्यां जगत्** — जो कुछ भी है सबके साथ त्याग द्वारा बाधाहीन मिलन, यही तपोवन की साधना है। इसीलिए तरु-लता, पशु-पक्षियों के साथ भारतवर्ष का ऐसा घनिष्ठ, आत्मीय सम्बन्ध रहा है जो अन्य देशों के लोगों को अद्भुत प्रतीत होता है।

और इसीलिए हमारे देश की कविता में प्रकृति-प्रेम का जो परिचय मिलता है वह उसे अन्य देशों की कविता से अलग करता है, उसे विशिष्टता प्रदान करता है। यह प्रकृति पर प्रभुत्व नहीं, प्रकृति का उपभोग नहीं, प्रकृति के साथ मिलन है।

हमारे सभी कवियों ने यह माना है कि तपोवन शान्त रस से पूर्ण है। तपोवन का जो एक विशेष रस है वह है शान्त रस। शान्त रस है परिपूर्णता का रस। जिस तरह सात रंग की किरणें मिलकर श्वेत वर्ण बनता है, उसी तरह चित्त का प्रवाह जब विभिन्न भागों में खण्डित न होकर विश्व के साथ अपने अविच्छिन्न सामंजस्य से परिपूर्ण हो जाता है, तब शान्त रस का उदय होता है।

ऐसा ही शान्त रस तपोवन में है। यहाँ सूर्य, अग्नि, वायु, जल-थल, आकाश, तरु-लता, पशु-पक्षी—सभी के साथ चेतना का पूर्ण योग है।

भारत के तपोवन में यह जो शान्त रस का संगीत है, उसी के आदर्श से हमारे देश में अनेक मिश्र राग-रागिनियों की सृष्टि हुई है। इसीलिए हमारे काव्य में मानवीय व्यवहार के बीच प्रकृति को इतना बड़ा स्थान दिया गया है। हमारे मन में सम्पूर्णता के लिए जो आकांक्षा है उसकी पूर्ति के लिए ही ऐसा किया गया है।●

साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, द्वारा प्रकाशित 'रवीन्द्रनाथ के निबन्ध' से साभार संकलित।

जीवन-संदेश-3

ख़लील जिब्रान

खलील जिब्रान (1883-1933) एक लेबनानी-अमेरिकी रहस्यवादी दार्शनिक, कवि, चिन्तक और चित्रकार थे। उनका जन्म एक ईसाई परिवार में हुआ था। आर्थिक कारणों से उनकी माता उन्हें लेकर न्यूयार्क में अपने भाई के पास आकर रहने लगीं। वहीं जिब्रान पश्चिमी प्रभाव में बड़े हुए। अन्तर्मुखी प्रवृत्ति के युवा जिब्रान समृद्धि के बीच में रहते हुए भी उसकी चकाचौंध से कभी प्रभावित नहीं हुए। वे मनुष्य के अन्तरतम के रहस्य की खोज में लगे थे। उन्हें जो दृष्टि मिली उसे उन्होंने लघु कथाओं और सूक्तियो के रूप में प्रकट किया। उनके लेखन में नित्यता और अनित्यता, सुख और दुःख, मुक्ति और बंधन, विश्वास और आस्था, काल और कालातीत पर गहन चिन्तन मिलता है। सस्ता साहित्य मंडल द्वारा प्रकाशित हिन्दी में उपलब्ध खलील जिब्रान की कुछ पुस्तकें हैं– *जीवन संदेश* (द प्रोफैट), *पागल* (द मैडमैन), *बटोही* (दि वांडरर), *धरती के देवता* (द अर्थ गॉड्स) आदि।

स्वतन्त्रता

और एक व्याख्यानदाता बोला–

हमसे स्वतन्त्रता के संबंध में कुछ कहो।

उसने उत्तर दिया–

मैंने तुम्हें नगरद्वार और अलाव पर अपनी स्वतन्त्रता को साष्टांग दंडवत् करते और उसकी पूजा करते देखा है, जिस प्रकार गुलाम अपने अत्याचारी मालिक की मिन्नत और स्तुति करता है, यद्यपि वह मालिक उन्हें मार ही डालता है।

हाँ हाँ, मैंने मंदिर के कुंज और किले की आड़ में तुममें से अधिक-से-अधिक आज़ाद आदमी को भी अपनी स्वतन्त्रता को जुआ और हथकड़ी बनाकर धारण किए हुए देखा है।

और मेरा हृदय भीतर ही भीतर रो पड़ा है।

क्योंकि तुम स्वतंत्र तभी होगे जब स्वतंत्र होने की इच्छा भी तुम्हें बंधन जान पड़ेगी और जब स्वाधीनता को तुम ध्येय और सिद्धि कहना छोड़ दोगे।

वास्तव में तुम स्वतंत्र तभी होगे जब तुम्हारे दिन चिंतारहित नहीं होगे और न रातें वासना और शोक से खाली होंगी, बल्कि जब ये चीज़े तुम्हें पीसती होंगी और फिर भी तुम इनसे ऊपर उठोगे–नग्न और मुक्त।

और तुम अपने दिन-रातों के ऊपर कैसे उठ सकते हो, जब तक कि तुम उन ज़ंजीरों को नहीं तोड़ते जिन्हें कि तुमने अपने ज्ञान के सूर्योदय में अपनी दोपहरियों के चारों तरफ कस दिया है?

यथार्थ में, जिसे तुम स्वाधीनता कहते हो वह इनमें सबसे अधिक मज़बूत ज़ंजीर है, यद्यपि इसकी कड़ियाँ धूप में चमकती हैं और तुम्हारी आँखों को चौंधिया देती हैं।

और वे हैं क्या–तुम्हारे स्वयं के टुकड़े ही तो, जिन्हें त्यागकर तुम स्वतंत्र होना चाहते हो।

तुम किसी न्यायपूर्ण कानून की किताब रद्द करना

चाहते हो, परंतु वह कानून कभी तुमने अपने हाथों से अपने ही ललाट पर लिखा था।

तुम उसे मिटा नहीं सकते, भले ही कानून की किताबें जला दो अथवा अपने न्यायाधीश के कपालों को धोने के लिए तुम समुद्र उँड़ेल दो।

तुम किसी ज़ालिम राजा को सिंहासन से उतारना चाहते हो तो पहले यह निश्चय कर लो कि तुम्हारे दिल में उसके लिए जो सिंहासन बना हुआ है वह भी नष्ट हो चुका है।

क्योंकि, यदि स्वतंत्र और स्वाभिमानी की स्वतंत्रता में अत्याचार, और स्वाभिमान में बेशर्मी का अंश नहीं है तो उस पर कोई अत्याचारी शासन कर भी कैसे सकता है?

तुम किसी चिन्ता को उतार फेंकना चाहते हो, परंतु उस चिन्ता को तुमने स्वयं चुना है, किसी ने तुम पर लादा नहीं।

तुम किसी भय को भगाना चाहते हो परंतु उसका निवास-स्थान स्वयं तुम्हारे हृदय में है, न कि उसके हाथ में जो तुम्हें भयभीत करता है।

वास्तव में, वे सभी वस्तुएँ एक-दूसरे से सटकर तुम्हारे ही अन्दर मौजूद रहती हैं—जिनको तुम चाहते हो और जिनसे तुम डरते हो, जिनसे तुम घृणा करते हो और जिनकी तुम अभिलाषा करते हो, जिनके पीछे तुम दौड़ रहे हो और जिनसे तुम छुटकारा चाहते हो।

ये सभी वस्तुएँ तुम्हारे अन्तराल में प्रकाश और छाया की तरह एक-दूसरे का अनुसरण करनेवाले जोड़ों के रूप में घूमती रहती हैं।

और जब छाया मंद पड़ती है और मिट जाती है तो वह प्रकाश, जो विदा लेने में विलंब कर रहा है, दूसरे प्रकाश के लिए छाया बन जाता है।

इस प्रकार जब तुम्हारी स्वतंत्रता अपनी बेड़ियाँ तोड़ देती है, तब वह उच्चतर स्वतंत्रता के लिए बेड़ियाँ बन जाती है।

विवेक और वासना

और पुजारिन ने फिर कहा—

हमसे विवेक और वासना के संबंध में कुछ कहो।

और उसने उत्तर दिया—

अनेक बार तुम्हारा अंतःकरण संग्राम-भूमि बनता है, जहाँ तुम्हारा विवेक और तुम्हारी न्याय-बुद्धि तुम्हारी वासना एवं तृष्णा के विरुद्ध युद्ध करती है।

काश, मैं तुम्हारे अन्तःकरण में शान्ति-निर्माता बन सकता और तुम्हारे तत्त्वों की पारस्परिक विषमता और प्रतिस्पर्धा को एकता और लय में बदल सकता!

किंतु, यह मैं कैसे कर सकता हूँ, यदि तुम स्वयं भी शान्ति-निर्माता और अपने सभी तत्त्वों के प्रेमी नहीं बनते?

तुम्हारा विवेक और तुम्हारी वासना, तुम्हारी समुद्र-प्रवासी आत्मा के पाल और पतवार हैं।

यदि तुम्हारी पाल या पतवार टूट जाए तो तुम लहरों द्वारा उछाले जाकर कहीं को बहोगे या फिर बीच समुद्र में जहाँ-के-तहाँ रुके रहोगे।

क्योंकि, विवेक एकाकी राज करते हुए मर्यादित करनेवाली शक्ति है, और बेलगाम वासना वह ज्वाला है जो स्वयं अपने को जलाकर समाप्त करने तक जलती है।

अतएव, तुम्हारी आत्मा तुम्हारे विवेक को वासना की ऊँचाई तक उठाए ताकि वह गा सके।

और अपनी वासना को विवेक से संचालित होने दो, ताकि तुम्हारी वासना नित्य ही अपने विनाश में से नया जन्म पा सके, और फीनिक्स पक्षी के समान भस्म होकर पुनः जीवित हो सके।

मैं चाहता हूँ कि तुम अपने विवेक और अपनी तृष्णा का सत्कार अपने घर आए हुए दो प्रिय अतिथियों के समान करो।

निश्चय ही, तुम एक अतिथि का दूसरे अतिथि से बढ़कर सत्कार नहीं करोगे। क्योंकि जो एक का अधिक ध्यान रखता है, वह दोनों के प्रेम और विश्वास से हाथ धो बैठता है।

जब तुम पहाड़ियों में नीम की शीतल छाया में, खेतों और मैदानों की शान्ति और गंभीरता में भाग लेते हुए बैठो, तब तुम्हारा हृदय उस शान्ति में बोले, "ईश्वर विवेक में निवास करता है।"

और जब तूफान उठे, प्रबल वायु जंगलों को झकझोरे, और बिजली और बादलों की कड़क आकाश की भव्य भीषणता घोषित करे, तब तुम्हारा हृदय भय के साथ कहे, "ईश्वर वासना में विचरण करता है।"

और चूँकि तुम भी प्रभु के लोक में एक साँस हो, ईश्वर के जंगल में एक पत्ते हो, इसलिए तुम भी विवेक में निवास और वासना में विचरण करो।

दुःख

और एक स्त्री बोली—

हमसे दुःख के संबंध में कुछ कहो।

और उसने कहा—

तुम्हारा दुःख उस छिलके का तोड़ा जाना है, जिसने तुम्हारे ज्ञान को अपने भीतर छिपा रखा है।

जिस तरह फल के कठोर छिलके का टूटना अनिवार्य होता है, ताकि उसका हृदय सूर्य के प्रकाश में आ सके, उसी तरह तुमको भी दुःख का परिचय प्राप्त होना चाहिए।

यदि तुम अपने जीवन के रोज़मर्रा के चमत्कारों के प्रति अपने हृदय को आश्चर्य में रख सको तो तुम्हें तुम्हारा दुःख तुम्हारे सुख की अपेक्षा कम आश्चर्यपूर्ण प्रतीत नहीं होगा।

और तुम अपने हृदय की ऋतुओं को उसी तरह स्वीकार करोगे जिस तरह तुम उन ऋतुओं को स्वीकार करते हो जो तुम्हारे खेतों में से गुज़रती हैं। और तुम शान्तिपूर्वक अपने शोक के पतझड़ों को देख सकोगे।

अपने अधिकांश दुःख को तुमने स्वयं चुना है।

दुःख एक कड़वी औषधि है, जिससे तुम्हारा अंतर्वासी चिकित्सक तुम्हारे रोगी अस्तित्व को स्वस्थ करता है।

इसलिए अपने चिकित्सक पर विश्वास करो और उसकी दी हुई औषधि को चुपचाप शान्ति से पी लो,

क्योंकि उसके हाथ यद्यपि कठोर और भारी हैं, वे अदृश्य के कोमल हाथ से संचालित होते हैं।

और उसका दिया हुआ प्याला यद्यपि तुम्हारे होंठों को जलाता है, फिर भी वह उस मिट्टी से बनाया गया है जिसे 'कुम्हार' ने अपने पवित्र आँसुओं से सींचा है।

आत्म-ज्ञान

और एक आदमी ने कहा–

आत्म-ज्ञान के संबंध में हमसे कुछ कहो।

और उसने कहा–

तुम्हारे हृदय निःशब्दता में दिवस और रात्रि के रहस्यों को जानते हैं।

परंतु तुम्हारे कान तुम्हारे हृदय के ज्ञान के शब्द के प्यासे हैं।

जो तुम विचारों में सदा जानते रहे हो उसे तुम शब्दों में जानना चाहते हो।

ऐसा करना ठीक भी है।

तुम्हारी आत्मा के गुप्त जल-स्रोत को बाहर फूटकर समुद्र की ओर कल-कल करते हुए बहना ही चाहिए।

और तब तुम्हारी अतल गहराइयों का कोष तुम्हारे नेत्रों के आगे प्रकट हो जाएगा।

परंतु तुम्हारे ज्ञान के खजाने को तौलने के लिए तराजू न हो ।

और किसी बाँस या थाह लेनेवाली डोरी से अपने ज्ञान की गहराई नापने का प्रयत्न न करना,

क्योंकि आत्मा अगाध और असीम समुद्र है।

"मैंने सत्य को पा लिया", ऐसा मत कहो, बल्कि कहो, "मैंने एक सत्य पाया है।"

"मैंने आत्मा का मार्ग पा लिया", ऐसा मत कहो, बल्कि कहो, "मैंने अपने मार्ग पर चलते हुए आत्मा के दर्शन किए हैं।"

क्योंकि आत्मा सभी रास्तों पर चलती है। आत्मा एक ही लीक पर नहीं चलती, न वह नरकुल की तरह उगती है।

आत्मा असंख्य पंखुड़ियोंवाले कमल के सदृश अपने- आपको विकसित करती है।

अध्यापन

तब एक अध्यापक ने कहा–

हमसे अध्यापन के विषय में कुछ कहो।

और उसने कहा–

तुम्हारे ज्ञान के उषा-काल में, जो कुछ पहले से ही अर्धनिद्रित अवस्था में विद्यमान है, उसके अतिरिक्त कोई भी तुम्हारे आगे कुछ प्रकट नहीं कर सकता।

जो अध्यापक अपने अनुगामियों में मंदिर की छाया तले विचरण करता है, वह उन्हें अपने ज्ञान का अंश नहीं, बल्कि अपना विश्वास और वात्सल्य प्रदान करता है।

यदि वह वात्सल्य में बुद्धिमान है तो वह तुम्हें अपने ज्ञान-मंदिर में प्रवेश करने के लिए नहीं कहता, बल्कि वह तुम्हें तुम्हारी बुद्धि की दहलीज़ तक ले जाएगा।

खगोल-शास्त्री अपने आकाश-संबंधी ज्ञान के विषय में तुमसे चर्चा कर सकता है, किन्तु वह तुम्हें अपना ज्ञान प्रदान नहीं कर सकता।

गायक गाकर तुम्हें सर्वत्र-व्यापी लय में से कुछ सुना सकता है, परंतु वे कान नहीं दे सकता जो उस लय को पकड़ लेते हैं, न उसको प्रतिध्वनित करने वाली आवाज़ ही।

और निपुण गणितज्ञ तुमसे तौल और माप के लोक की बातें कह सकता है, लेकिन वह तुम्हें वहाँ ले नहीं जा सकता।

क्योंकि, एक मनुष्य की दर्शन-शक्ति दूसरे मनुष्य को अपने पंख नहीं दे सकती।

और जैसे ईश्वर की दृष्टि में तुम सब अलग-अलग खड़े हो, वैसे ही तुममें से प्रत्येक को भी अपने ईश्वरीय ज्ञान और लौकिक अनुभूति में अकेला रहना चाहिए।

मित्रता

और एक युवक ने कहा–

हमसे मित्रता के विषय में कुछ कहो।

और उसने उत्तर दिया–

तुम्हारा मित्र तुम्हारे अभावों की पूर्ति है। वह तुम्हारा खेत है, जिसमें तुम प्रेम का बीज बोते हो और कृतज्ञता का फल प्राप्त करते हो।

वह तुम्हारा भोजन-गृह है और वही तुम्हारा अलाव।

क्योंकि तुम उसके पास अपनी भूख लेकर जाते हो और शान्ति पाने की इच्छा से उसे तलाश करते हो।

जब तुम्हारा मित्र तुम्हारे सामने अपना दिल खोलकर रखे तो तुम अपने मन के 'न' को प्रकट करने में मत डरो और न 'हाँ' कहने में झिझको।

और जब वह चुप होता है, तब भी तुम्हारा हृदय उसके दिल की आवाज़ सुनना बंद नहीं कर देता।

क्योंकि मित्रता में, शब्दों की सहायता के बिना ही सारे विचार, सारी शुभकामनाएँ, और सारी आशाएँ अव्यक्त आनंद के साथ पैदा होती हैं और उपभोग में आती हैं।

जब तुम अपने मित्र से विदा हो तो शोक मत करो।

क्योंकि, तुम उसमें जिस वस्तु को सबसे अधिक प्यार करते हो, वही उसकी अनुपस्थिति में अधिक स्पष्ट हो सकती है, जैसे एक पर्वतारोही को नीचे मैदान से पर्वत अधिक स्पष्ट और सुन्दर दिखाई देता है।

आत्मीयता को गहरा बनाते रहने के सिवा तुम्हारी मित्रता में कोई और प्रयोजन नहीं होना चाहिए।

क्योंकि, जो प्रेम अपने ही रहस्य का घूँघट खोलने के अतिरिक्त कुछ और खोजता है, वह प्रेम नहीं, एक जाल है, जिसमें निकम्मी वस्तु के सिवा और कुछ नहीं फँसता।

तुम्हारी प्रिय से प्रिय वस्तु अपने मित्र के लिए हो।

जिसने तुम्हारे जीवन-समुद्र का भाटा देखा है उसे उसका ज्वार भी देखने दो। क्योंकि मित्र क्या ऐसी वस्तु है जिसे तुम समय की हत्या करने के लिए खोजते हो?

सदैव समय को सजीव करने के लिए उसे खोजो,

क्योंकि उसका काम तुम्हारे अभाव की पूर्ति करना है, न कि तुम्हारे खालीपन को भरना।

और मैत्री के माधुर्य में हास्य का स्फुरण हो और उल्लास का विनिमय,

क्योंकि नन्हीं-नन्हीं चीज़ों के ओस-कणों में हृदय अपना प्रभात देखता है और ताजा हो उठता है।

वार्तालाप

और तब एक विद्वान ने कहा–

हमसे वार्तालाप के विषय में कुछ कहो।

और उसने उत्तर दिया–

जब तुममें और तुम्हारे विचारों में शान्ति नहीं रह पाती तब तुम बातचीत करते हो।

जब तुम अपने हृदय के एकान्त में और अधिक निवास नहीं कर सकते तब तुम अपने होंठों पर वास करते हो, जो वाणी परिवर्तन तथा विनोद का साधन है।

और तुम्हारी अधिकांश चर्चाओं में विचार का कचूमर निकाल दिया जाता है।

क्योंकि, विचार आकाश का पक्षी है जो शब्दों के पिंजरे में अपने पंख भले ही फड़फड़ा ले, लेकिन उड़ नहीं सकता।

तुममे से अनेक अकेलेपन से डरकर किसी बातूनी की खोज करते हैं।

क्योंकि, एकांत की नीरवता उनकी आँखों के सामने उनका नंगा रूप प्रकट कर देती है और वे उससे भागना चाहते हैं।

और कुछ लोग बात करते हुए अनजाने में, पहले के विचार के किसी सत्य को प्रकट कर देते हैं जिसे वे स्वयं नहीं समझते।

और कुछ लोग ऐसे हैं, जिनके हृदय में सत्य है, लेकिन वे उसे शब्दों में व्यक्त नहीं करते ।

ऐसे ही लोगों के हृदय में आत्मा लयपूर्ण संगीत में निवास करती है।

जब तुम अपने मित्र से सड़क पर या हाट-बाज़ार में मिलो तब तुम्हारी भावना होंठों को गति दे और तुम्हारी जिह्वा का संचालन करे।

तुम्हारी वाणी की वाणी उसके कानों में प्रवेश करे।

क्योंकि उसकी आत्मा तुम्हारे हृदय के सत्य को सम्हालकर रखेगी, जिस तरह जब मदिरा के रंग की याद नहीं रहती और प्याला सामने नहीं रहता तब भी उसका स्वाद याद रहता है।●

क्या आत्मा और परमात्मा एक हैं? कुछ शंकाएँ

डा. रवीन्द्र अग्निहोत्री

लगभग तीन दशक तक उत्तर प्रदेश एवं राजस्थान में बहुत सफल प्राध्यापक, लेखक, अनुवादक रह चुके, और अनेक राष्ट्रीय सम्मानों से विभूषित डा. रवीन्द्र अग्नहोत्री आजकल चेन्नई स्थित एस. बी. आई. ओ. ए. प्रबंध संस्थान में वरिष्ठ प्रोफ़ेसर, एवं हिंदी सलाहकार समिति, वित्त मंत्रालय, भारत सरकार के सदस्य हैं। डा. अग्निहोत्री प्रबुद्ध चिन्तक हैं। भारत-संधान में प्रकाशित कुछ लेखों को पढ़कर उन्होंने सम्पादक को लिखा-

"आपने लिखा है कि मनुष्य का प्रत्येक कार्य और प्रत्येक विचार उसके अन्दर विद्यमान अनुभूतियों से संचालित होता है और इन अनुभूतियों पर मनुष्य का कोई नियंत्रण नहीं है। यह भी लिखा है कि मनुष्य के जीवन के अन्दर की हर हलचल उससे ऊपर की किसी शक्ति से नियंत्रित होती है। "

इसका अर्थ क्या यह है कि हम जो भी कर्म करते हैं वह किसी ऐसी शक्ति की प्रेरणा से करते हैं जिस पर हमारा कोई नियंत्रण नहीं? यदि हाँ, तो इसकी संगति क्या उस दार्शनिक सिद्धांत से भी बैठाई जा सकती है जिसके अनुसार मनुष्य को कर्म करने में 'स्वतंत्र' बताया गया है (कर्मण्येवाधिकारस्ते); यदि नहीं तो क्या यह सिद्धांत गलत माना जाए?"

(इस प्रश्न के संबंध में इस अंक की प्रश्न-चर्चा देखें।)

(२) "आपने लिखा है कि आत्मा और परमात्मा एक हैं, आत्मा का परम रूप ही परमात्मा है। हम लोग अपनी समझ के अनुसार आत्मा और परमात्मा को जिस रूप में अलग मानते आए हैं वह मैं संलग्न फ़ाइल में कतिपय बिन्दुओ के रूप में लिख रहा हूँ।"

डा. अग्निहोत्री ने बहुत परिश्रम से उन सभी विचारों और तर्कों को यहाँ प्रस्तुत किया है। क्योंकि प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण है और हम सभी के जीवन से सीधा सम्बन्ध रखता है, इस लिए हम उनके पत्र के बिन्दुओं को अविकल रूप में नीचे दे रहे हैं। हम चाहते हैं कि हमारे पाठक भी इस विषय में चिन्तन करें अपने विचार लिखें। इस प्रश्न पर चर्चा हम अगले अंक में लेंगे।

परमात्मा और जीवात्मा में अंतर

1. परमात्मा सत्, चित् और आनंदस्वरूप है, इसीलिए उसे '**सच्चिदानंद**' कहते हैं। जीवात्मा सत् और चित् ही है, आनन्द नहीं; जीवात्मा आनंद से रहित है।

2. परमात्मा कर्म करने में पूर्ण स्वतंत्र है; जीवात्मा कर्म करने में स्वतंत्र, किन्तु फल भोगने में परतंत्र है।

3. परमात्मा अजन्मा है, इसीलिए अजर है, अमर है। जिसका जन्म होता है, जो शरीर धारण करता है वह कभी न कभी बूढ़ा भी होता है, और उसकी कभी न कभी मृत्यु भी होती है; जीवात्मा जन्म लेता है, शरीर धारण करता है, इसलिए उसका शरीर बूढ़ा भी होता है और शरीर का अंत भी होता है।

4. परमात्मा सदा निष्काम कर्म करता है; जीवात्मा सकाम कर्म भी करता है।

5. परमात्मा अभय है, कभी किसी से भयभीत नहीं होता; जीवात्मा भयभीत भी होता है।

6. परमात्मा सांसारिक सुख-दुःख से संयुक्त नहीं

होता; जीवात्मा सांसारिक सुख-दुःख से संयुक्त होता है।

7. परमात्मा कभी अधर्म-अन्याय नहीं करता, जीवात्मा अधर्म-अन्याय भी करता है .

8. परमात्मा सदा जागृत रहता है, चाहे सृष्टिकाल हो या प्रलयकाल; जीवात्मा सदा जागृत नहीं रहता, प्रलयकाल में बेहोश रहता है।

9. परमात्मा पूर्ण धैर्यवान है; जीवात्मा पूर्ण धैर्यवान नहीं है।

10. परमात्मा सर्वत्र व्यापक है; जीवात्मा एकदेशीय है।

11. परमात्मा सर्वशक्तिमान-सर्वज्ञ है; जीवात्मा अल्प शक्तिमान अल्पज्ञ है।

12. परमात्मा सृष्टि का रचयिता, पालनकर्ता और विनाशकर्ता है; जीवात्मा सृष्टि की रचना करने, पालन करने और विनाश करने में असमर्थ है।

13. परमात्मा स्वयंभू है, अर्थात् सदा अपनी सत्ता में बिना किसी की सहायता के विद्यमान रहता है। जीवात्मा परमात्मा की शक्ति पाकर ही अपनी सत्ता की अनुभूति करता है।

14. परमात्मा सर्वद्रष्टा है। संसार में जितनी भी जड़-चेतन वस्तुएं हैं उन सबको सदैव देखने वाला है; जीवात्मा की दृष्टि सीमित है।

15. परमात्मा सर्वश्रोता है। संसार में होनेवाली समस्त ध्वनियों को हर समय सुनता है; जीवात्मा में ऐसी श्रवण शक्ति नहीं है।

16. परमात्मा सर्वरक्षक है, अर्थात् सब जीवों की रक्षा करता है; जीवात्मा सब जीवों की रक्षा करने में समर्थ नहीं है।

17. परमात्मा सर्वाधार है, अर्थात् समस्त जड़-चेतन वस्तुओं का आधार है; जीवात्मा सर्वाधार न तो है, न हो सकता है।

18. परमात्मा सर्वेश्वर है, अर्थात् समस्त जड़-चेतन वस्तुओं का स्वामी है तथा सबसे अधिक ऐश्वर्यवान है; जीवात्मा सर्वेश्वर नहीं है।

19. परमात्मा सर्वहितकारी है। वह सब जीवों का हित करने वाला है; जीवात्मा सर्वहितकारी नहीं है। वह कभी अज्ञानतावश अहित भी कर सकता है।

20. परमात्मा सर्वान्तर्यामी है, अर्थात् सबके अन्दर स्थित होकर सबको जानने वाला है; जीवात्मा सर्वान्तर्यामी नहीं है।

21. परमात्मा सबका माता-पिता है। जितने भी जीव-जंतु इस ब्रह्माण्ड में हैं उन सबका जनक और पालक है; जीवात्मा सबका माता-पिता नहीं है।

22. परमात्मा समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड का राजा है; जीवात्मा राजा नहीं, बल्कि उस परमात्मा की प्रजा है।

23. परमात्मा सबका गुरु है; जीवात्मा सबका गुरु कभी नहीं बन सकता।

24. परमात्मा सबका उपास्य (उपासना करने योग्य) है; जीवात्मा उपास्य नहीं है, बल्कि उपासक है।

25. परमात्मा अनुपम है। कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जो परमात्मा से बेहतर हो, परमात्मा जिसकी उपासना कर सके; जीवात्मा अनुपम नहीं क्योंकि उससे अच्छे पदार्थ संसार में विद्यमान हैं।

26. परमात्मा परिपूर्ण है क्योंकि उसमें किसी भी प्रकार की कोई न्यूनता नहीं है; जीवात्मा में अनेक प्रकार की न्यूनताएँ हैं।

27. परमात्मा निर्विकार है। उसमें किसी भी प्रकार का आंतरिक या बाह्य विकार नहीं होता; जीवात्मा में राग-द्वेष, शोक-चिन्ता, सुख-दुःख आदि अनेक प्रकार के विकार होते हैं।

28. परमात्मा निरामय है, अर्थात् कभी रोगी नहीं होता; जीवात्मा शारीरिक-मानसिक आदि अनेक प्रकार से रोगी होता है।

29. परमात्मा निराकार है, उसका कोई आकार नहीं है और इसी रूप में वह अपनी शक्तियों का उपयोग करता है। जीवात्मा भी निराकार है, पर जीवात्मा जब तक शरीर धारण नहीं करता तब तक अपनी शक्तियों का उपयोग नहीं कर सकता, कर्म नहीं कर सकता। अतः वह शरीर धारण करके आकार ग्रहण करता है। इस प्रकार उसका शरीर साकार होता है

30. परमात्मा नित्य है और जीवात्मा भी नित्य है । भौतिक चीज़ें अनित्य होती हैं, अर्थात् नाशवान होती हैं। परमात्मा नित्य है अर्थात्, कभी नष्ट नहीं होता। जीवात्मा भी कभी नष्ट नहीं होता। जिस शरीर में आकर वह सक्रिय होता है, वह शरीर भौतिक होता है और भौतिक होने के कारण शरीर नाशवान होता है। तभी तो जीवात्मा के लिए गीता में कहा है—**नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः। न चैनं क्लेदन्त्यापो न शोषयति मारुतः।** (गीता-2.23) (इस शरीर के स्वामी जीवात्मा को शस्त्र काट नहीं सकते, आग जला नहीं सकती , पानी गीला नहीं कर सकता , पवन सुखा नहीं सकता।)●

वाक्यपदीय-भर्तृहरि का भाषा-दर्शन-14

अनिल विद्यालंकार

भारतीय दर्शन का स्फोट सिद्धान्त

स्फोट सिद्धान्त भारतीय मनीषा की एक बहुत बड़ी उपलब्धि है। इस सिद्धान्त का विकास हमारी श्रवणेन्द्रिय से ग्रहण होनेवाली ध्वनियों और शब्दों के संबंध में किया गया था, पर जैसा कि हम अभी देखेंगे, यह हमारी सभी इन्द्रियों के माध्यम से प्रत्यक्ष करने की प्रक्रियाओं पर, शब्दों के अर्थ पर और वास्तव में सारे जीवन-व्यापार पर लागू होता है।

पहले ध्वनियों और शब्दों के संबंध में स्फोट की प्रक्रिया समझें। कोई व्यक्ति *आ* ध्वनि का उच्चारण करता है। वह इसे सामान्य उच्चारण के समय में बोल सकता है, या उससे दुगुना समय लगा सकता है, या फिर और लंबे समय में उच्चरित कर सकता है। सामान्य समय के उच्चारण को ह्रस्व, उससे दुगुने समय को दीर्घ और उससे तिगुने समय को प्लुत कहा जाता है। आपने कहीं-कहीं ओम् शब्द को ओ3म् के रूप में लिखा हुआ देखा होगा। ओम् के बीच में 3 लिखने का आशय है कि ओ ध्वनि को सामान्य से तीन गुने समय तक उच्चरित किया जाना चाहिए।

इसी प्रकार *आ* को कभी नीची आवाज़ में बोला जा सकता है, कभी ऊँची आवाज़ में और कभी चिल्लाती हुई आवाज़ में। आवाज़ के अलग-अलग ऊँचाई में और अलग-अलग गति से उच्चरित होने पर भी हम जब *आ* यो *ओ* की बात करते हैं तो हमारे मन में एक ही प्रकार के *आ* या *ओ* का ग्रहण होता है। श्रवणेन्द्रिय से विभिन्न प्रभाव ग्रहण करने पर भी मन में एक ही बिम्ब का जगना **स्फोट** है।

वाक्य में शब्दों को धीरे-धीरे अलग-अलग करके बोला जा सकता है या फिर तेज़ी के साथ जिसमें शब्द आपस में मिलजुल जाते हैं। पर वाक्य में शब्दों का स्फोट एक ही रूप में होता है।

स्फोट की प्रक्रिया को अन्य इन्द्रियों के माध्यम से हुए प्रत्यक्ष में भी देखा जा सकता है। आप अपने घर के पास के नीम के पेड़ को कभी दूर से देखते हैं, कभी पास से, कभी उसके नीचे खड़े होकर, या कभी उस पर चढ़कर। उस पेड़ का होने वाला प्रत्यक्ष सदा भिन्न होता है, पर जब भी उस नीम के पेड़ की बात करते हैं तो आपके मन में एक ही सामान्य बिम्ब उभरता है जो उस पेड़ का स्फोट है।

आपने अनेक प्रकार के आम खाए हैं। आम के सभी किस्मों का स्वाद अलग है, पर जब आम के स्वाद की बात करते हैं तब आपके मन में एक ही बिम्ब होता है जो उसका स्फोट है।

आप *यह संसार* कहकर संसार के बारे में एक बिम्ब लेकर चलते हैं जबकि संसार में अनन्त विविधता है और यह निरन्तर बदलता है। आप इसी प्रकार *मेरा धर्म, मेरा जीवन, ईश्वर* आदि के बारे में बात करते हैं। पर जब आप किसी भी चीज़ के बारे में बोल रहे होते हैं उस समय उस चीज़ की एक ही संकल्पना आपके मन में होती है। वह संकल्पना ही स्फोट है। अनुभवों के साथ यह स्फोट बदलता रहता है। पर वह सदा आपके अंदर ही रहता है।

और यह स्फोट नये-नये अनुभवों के आधार पर बदलता भी रहता है। आपका किसी व्यक्ति से परिचय होता है। उसके बारे में आपके मन में एक धारणा बनती है। ज्यों-ज्यों आप उस व्यक्ति के बारे में अधिक जानते जाएँगे उसके बारे में आपके मन में विद्यमान स्फोट बदलता जाएगा। आप एक कविता पढ़ते हैं। उस कविता के बारे में आपके मन में एक स्फोट बनता है। कुछ समय बाद उसी कविता को फिर से पढ़ने पर उसके बारे में आपके मन का स्फोट बदल जाता है। स्वयं अपने बारे में आपका स्फोट बदलता रहता है। दस साल की उम्र में

भी आप 'मैं' के बारे में बात करते थे, बीस साल की और तीस साल की उम्र में भी। 'मैं' शब्द वही रहता है, उसका स्फोट निरन्तर बदलता रहता है।

स्फोट की परिभाषा देते हुए भर्तृहरि कहते हैं–

अनेक-व्यक्त्यभिव्यंग्या जातिः स्फोट इति स्मृता। **(वाक्यपदीय 1-93)**

(अनेक अभिव्यक्तियों के बीच में से जो सामान्य भाव उदित होता है वह स्फोट है।)

यह स्फोट की बहुत स्पष्ट परिभाषा है। किसी पदार्थ, व्यक्ति या घटना की अनेक अभिव्यक्तियों के द्वारा हमारे मन में उसके बारे में एक संकल्पना बनती है जो उसका स्फोट है। वह अभिव्यक्ति देशकाल में होती है, स्फोट सदा देशकालातीत रहता है। भाषा के बारे में कहें तो भाषा के शब्द देशकाल में होते हैं, उनका अर्थ देशकालातीत।

स्फोट के बारे में कुछ जान लेने के बाद, आइए हम वाक्यपदीय से इस प्रसंग की कुछ कारिकाएँ पढ़ें।

36. स्फोटस्याभिन्नकालस्य ध्वनिकालानुपातिनः।
ग्रहणोपाधिभेदेन वृत्तिभेदं प्रचक्षते।। (1-75)

स्फोट एक समय में अभिन्न अर्थात् एक ही रहता है, लेकिन जब स्फोट पर उच्चारण से समय की दृष्टि से शब्द का अनुपात लागू कर दिया जाता है तब, शब्दों को जिस रूप में बोला जाता है उसके ग्रहण के प्रकार से, कहा जाता है कि यह बोलने का प्रकार मूल शब्द का है, जबकि मूल स्फोटात्मक शब्द देशकाल में नहीं होता और उच्चारण के प्रकार का उसपर कोई प्रभाव नहीं होता।

(**अभिन्नकालस्य स्फोटस्य**–काल में एक (अभिन्न) रहनेवाले स्फोट पर, जब, **देशकालानुपातिनः**–देशकाल में उच्चरित होनेवाले (ह्रस्व,दीर्घ,प्लुत आदि के भेद से) ध्वनियों और शब्दों का अनुपात लागू कर दिया जाता है, तो लोग, **ग्रहणोपाधिभेदेन**–शब्दों को जिस रूप में बोला जाता है उसके ग्रहण के प्रकार के भेद से, **वृत्तिभेदं प्रचक्षते**–कहते हैं कि यह बोलने का प्रकार मूल शब्द का है (जबकि मूल स्फोटात्मक शब्द देशकाल में नहीं होता और उच्चारण के प्रकार का उस पर कोई प्रभाव नहीं होता।)

37. स्वभावभेदान्नित्यत्वे ह्रस्वदीर्घप्लुतादिषु।
प्राकृतस्य ध्वनेः कालः शब्दस्येत्युपचर्यते।। (1.76)

अपनी विशिष्ट प्रकृति के कारण नित्य (कालातीत) रहनेवाले स्फोट में मनुष्य द्वारा निर्मित ध्वनि का काल मूल स्फोटात्मक शब्द का है, ऐसा मान लिया जाता है।

(**स्वभावभेदात् नित्यत्वे**–अपनी विशिष्ट प्रकृति के कारण नित्य (कालातीत) रहनेवाले स्फोट में, **ह्रस्वदीर्घप्लुतादिषु**–ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत के प्रसंग में, **प्राकृतस्य ध्वनेः कालः**– मनुष्य द्वारा निर्मित ध्वनि का काल, **शब्दस्य**–मूल शब्द का है, **इति उपचर्यते**–ऐसा मान लिया जाता है।

38. शब्दस्योर्ध्वम् अभिव्यक्तेर्वृत्तिभेदं तु वैकृताः।
ध्वनयः समुपोहन्ते स्फोटात्मा तैर्न भिद्यते।। (1-77)

शब्द के उच्चारण के बाद, उसके उच्चारण में के द्वारा जो विभिन्न ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं उनके आधार पर मूल स्फोटात्मक शब्द भी उसी प्रकार का होगा, इसका अनुमान लगाया जाता है (जबकि मूल स्फोटात्मक शब्द सदा अविकृत अवस्था में रहता है)

(**शब्दस्य ऊर्ध्वम् अभिव्यक्तेः**–बाद में शब्द की जो अभिव्यक्ति होती है, उसके प्रसंग में, (विभिन्न प्रकार से उच्चरित होने के कारण), **वैकृताः ध्वनयः**–विकृत, विभिन्न वक्ताओं द्वारा निर्मित ध्वनियाँ, **वृत्तिभेदं**–शब्द के स्वरूप के

भेद का, **समुपोहन्ते**—अनुमान लगाती हैं, (किन्तु उनके कारण), **स्फोटात्मा**—स्फोट की आत्मा (उसका मूल स्वरूप), **न भिद्यते**—भिन्न नहीं हो जाता, अर्थात् अपरिवर्तित रहता है।

भर्तृहरि के अनुसार अपनी भाषा में हम जो शब्द बोलते हैं उस शब्द का एक स्फोट हमारे मन में रहता है। उस स्फोट को उच्चारण में अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता क्योंकि विभिन्न मनुष्यों द्वारा उसी शब्द के उच्चारण में अन्तर होगा। उदाहरण के लिए *शान्ति* शब्द के उच्चारण में कुछ लोग अन्त में ह्रस्व इ बोलते हैं, कुछ दीर्घ। कुछ *श* के स्थान पर *स* बोलते हुए *सान्ति* कहते हैं। पर इन सभी प्रकार के उच्चारणों को सुनकर हमारे अंदर *शान्ति* शब्द के स्फोट की भावना जगती है जिसके कारण हम शान्ति शब्द का अर्थ लगाते हैं।

जिस प्रकार शब्द का स्फोट होता है उसी प्रकार अर्थ का भी, यद्यपि स्फोट की चर्चा प्रायः उच्चारण के प्रसंग में हुई है। *शान्ति* शब्द का अर्थ अलग-अलग मनुष्यों के अन्दर अलग-अलग प्रकार का होता है। किसी दंगे के बाद की शान्ति, दो युद्धों के बीच की शान्ति, परिवार में शान्ति, और व्यक्ति की मानसिक शान्ति में अन्तर है। जब कहा जाता है कि मन की शान्ति में परमात्मा के दर्शन होते हैं तो अवश्य ही वहाँ शान्ति का अर्थ दो युद्धों के बीच की शान्ति से भिन्न होता है।

इस प्रकार प्रत्येक शब्द का उच्चारण सदा भिन्न-भिन्न प्रकार से होता है, और प्रत्येक शब्द का अर्थ भी विभिन्न व्यक्तियों के लिए विभिन्न होता है, और उच्चारण की तरह अर्थ भी बदलता रहता है। पर भाषा में हमारा व्यवहार निरन्तर चलता है। ऐसा इस कारण है कि हम किसी शब्द के सर्वथा शुद्ध उच्चारण पर बल नहीं देते। सभी मनुष्यों के वाग्यंत्र के विभिन्न भाग अलग-अलग प्रकार के है। हर मनुष्य की जीभ और होंठ औरों से अलग हैं, इसलिए किसका उच्चारण प्रामाणिक माना जाए यह निश्चित करने का कोई उपाय नहीं है। दिल्ली और मेरठ के निकट के प्रदेश की हिन्दी को प्रामाणिक खड़ी बोली माना जाता है जबकि दिल्ली में ही अनेक प्रकार की हिन्दी बोली जाती है। पर हम भाषा में सर्वथा सही उच्चारण को तय करने पर बल नहीं देते, इसलिए एक दूसरे की भाषा सुनकर हमारा काम चलता रहता है।

अर्थ के बारे में भी यही बात लागू होती है। शान्ति पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन करने से पहले शान्ति की परिभाषा तय करने पर बल नहीं दिया जाता, और न अन्तर्धर्मीय संवाद करने के पहले धर्म की परिभाषा पर। इस प्रकार संवाद करते रहने से दुनिया चलती है। हम सदा स्फोट के आधार पर दुनिया को देखते और उसके बारे में बात करते हैं। हर चीज़ के बारे में हर व्यक्ति का स्फोट भिन्न होता है।

केवल संख्यावाची शब्द ऐसे हैं जिनके अर्थ का स्फोट सभी मनुष्यों के लिए समान होता है और सदा एक-सा रहता है। संख्या के व्यंजक शब्दों का उच्चारण अलग-अलग भाषाओं में अलग-अलग होता है पर उनका अर्थ सबके लिए एक होता है। इसमें हमारी चेतना का कोई गहरा रहस्य छिपा है। जर्मन गणितज्ञ लियोपोल्ड क्रोनेकर ने कहा है कि ईश्वर ने अंक बनाए हैं, शेष सब मनुष्य की रचना है (God made the integers; all else is the work of man.)। यह उक्ति हमें इस पर गंभीर चिन्तन करने के लिए प्रेरित करती है।

आप बढ़ई से एक मेज़ बनवाना चाहते हैं, तो 'एक मेज़ बना दो' कहने से काम नहीं चलेगा। आपको मेज़ की लंबाई, चौड़ाई और ऊँचाई संख्या में बतानी पड़ेगी। तभी आपके मन में और बढ़ई के मन में मेज़ के माप के प्रसंग में एक ही स्फोट होगा। आपको बुखार की दवा देने से पहले डाक्टर जानना चाहता है कि आपको बुखार कितना है, कितने दिन से है, सुबह और शाम के तापमान में कितना अन्तर है, आदि। किसी भी निदानात्मक (डायग्नोस्टिक) परीक्षण की रिपोर्ट देखिए। हर चीज़ वहाँ संख्या में दी जाती है।

संख्यावाची शब्दों पर सब सहमत हो सकते हैं क्योंकि उनके अर्थ का स्फोट सबके लिए समान होता है। विज्ञान और टैक्नालॉजी का विकास संख्यावाची शब्दों के आधार पर होता है। शेष सभी क्षेत्रों में, जिनमें धर्म, दर्शन, मनोविज्ञान, साहित्य, इतिहास, राजनीति शास्त्र आदि आते हैं, शब्दों का अर्थ निश्चित न होने के कारण मतभेद की सदा गुंजाइश रहती है, और इन क्षेत्रों में सदा ही बहस चलती रहती है। इस बहस के कभी समाप्त होने की संभावना भी नहीं है। इसका कारण इन क्षेत्रों के शब्दों के अर्थ की अनिश्चितता है।

भर्तृहरि ने स्फोट की चर्चा भाषा की ध्वनियों के संबंध में की है। हम उसी आधार पर उस चर्चा को बढ़ाने का प्रयास कर रहे हैं। इतना तय है कि हमारी भाषा का रहस्य स्फोट में छिपा है। हम इस चर्चा को जारी रखेंगे।●

वैदिक प्रार्थनाएं-2

अनिल विद्यालंकार

(वेद के प्रार्थना-मंत्रों में परमात्मा से हमें उदात्त गुण प्रदान करने और सही मार्ग पर चलने में हमारा मार्गदर्शन करने की प्रार्थना की गई है।)

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
यस्यच्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम।।

(ऋग्वेद 10.121.2)

जो परमात्मा हमें आत्मिक, शारीरिक और आन्तरिक बल का देनेवाला है, जिसके शासन को सारा संसार और देवता भी मानते हैं, जिसकी छाया में अमरत्व है, और जिसकी छाया में ही मृत्यु भी है, उस आनन्दस्वरूप परमात्मा की हम अपनी हवियों, आहुतियों से पूजा-उपासना करें।

मनुष्य अपने जीवन में प्रायः अपने आपको निर्बल और असहाय अनुभव करता है। इसका मुख्य कारण है कि हमारी इच्छाएँ, आकांक्षाएँ इन्द्रियों और मन से प्रेरित होती हैं। इन्द्रियों के वश में रहकर हमारा मन एक से बढ़कर एक इच्छा करता रहता है। जब एक इच्छा पूरी हो जाती है तो तुरन्त ही हम उससे बड़ी कोई इच्छा करने लगते हैं। इस चाह और लोभ से हमें कभी छुटकारा नहीं मिलता।

स्वभावतः जिस संसार में हम रहते हैं उसमें सभी मनुष्यों की सभी इच्छाएँ कभी पूरी नहीं हो सकतीं। जब मनुष्य के सामने इच्छाओं की पूर्ति में बाधाएँ आती हैं तो वह अपने को असहाय अनुभव करने लगता है।

पर मनुष्य की निर्बलता की अनुभूति तभी तक है जब तक वह अपने आपको संसार में अकेला अनुभव करता है। हमारा मन और हमारी भाषा विभाजन के आधार पर चलते हैं, इसलिए हमें संसार में सभी मनुष्य और सभी वस्तुएँ अलग-अलग दिखाई देती हैं। पर जब हम जान लेते हैं कि जिस परमात्मा ने हमें उत्पन्न किया है वह हमारे अन्दर ही विद्यमान है तो निर्बलता का भाव सदा के लिए समाप्त हो जाता है—वैसे ही जैसे बच्चा माँ की गोद में आकर अपने आपको सुरक्षित अनुभव करता है। पर हमारा अहंकार हमारी निर्बलता के निवारण के लिए परमात्मा की शरण में जाने में बाधक बनता है। हम अपनी ही शक्ति से सबकुछ करना और सबकुछ हासिल कर लेना चाहते हैं। पर देर-सबेर हर मनुष्य को अपनी सीमाएँ पता चल जाती हैं। ऐसी हालत में अपने ऊपर की शक्ति के निकट जाना आवश्यक हो जाता है।

परमात्मा बलदायक और आनन्दस्वरूप है। हर व्यक्ति सुख की कामना करता है। कोई भी दुखी बनकर दुनिया में नहीं रहना चाहता। संसार में जो कुछ भी हम करते हैं वह दुःख को दूर करने और सुख को पाने के लिए ही होता है। कभी-कभी हमें सुख पाने में सफलता भी मिलती है, पर संसार का हर सुख सीमित और अस्थायी होता है। हमारी इच्छा असीम सुख पाने की होती है। यह असीम सुख हमें परमात्मा के निकट जाकर ही मिल सकता है क्योंकि परमात्मा आनन्दस्वरूप है। परमात्मा के साथ निकटता में दुःख का लेशमात्र भी नहीं रहता।

यज्ञ में अग्नि को समर्पित की जानेवाली वस्तु को **हवि** कहते हैं। अग्नि को जो भी वस्तु समर्पित की जाती है वह अग्नि के स्वरूप की ही हो जाती है। मनुष्य यदि

अपने आपको पूरी तरह परमात्मा को समर्पित कर दे तो आनन्दस्वरूप परमात्मा उसका मार्गदर्शक बन जाएगा। ऐसे मनुष्य के सभी कार्य मानो परमात्मा ही कर रहा होगा और वह मनुष्य, गीता के शब्दों में निमित्तमात्र (साधन रूप) होगा।

परमात्मा की छाया में रहनेवाले व्यक्ति को कभी दुःख नहीं सताता और न उसे मृत्यु से भय लगता है। जीवन और मृत्यु हमसे ऊपर की शक्ति की लीला है। हमारे रूप में जिस अमर परमात्मा ने जन्म लिया है, मृत्यु के बाद हम उसी के आश्रय में चले जाएँगे।

इस भाव से जीनेवाले मनुष्य के जीवन में न तो निर्बलता होती है, न दुःख और न भय।

यः आत्मदा—जो परमात्मा हमें आत्मा (आत्मिक शक्ति) का देनेवाला है, **बलदा**—शारीरिक और आन्तरिक बल का देनेवाला है, **यस्य प्रशिषं**—जिसके शासन को, **विश्वे**—सभी लोग, और **देवाः**—देवता भी, **उपासते**—मानते हैं, उपासना करते हैं, **यस्य छाया अमृतम्** —जिसकी छाया में अमरत्व है, **यस्य मृत्युः**, (साथ ही) जिसकी छाया में ही मृत्यु भी है, **कस्मै देवाय**—उस आनन्दस्वरूप परमात्मा के लिए, **हविषा**—हम अपनी हवि, आहुति के द्वारा, **विधेम**—पूजा-उपासना करते हैं।

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्याम् उतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

(ऋग्वेद 10-121-39)

जिसके अन्दर स्वर्णिम प्रकाश अन्तर्हित था, ऐसा स्वयंभू परमात्मा, सबसे पहले सृष्टि में विद्यमान था। वही अकेला सृष्टि में जो भी कुछ है उसका स्वामी था। उसी ने पृथ्वी लोक और द्युलोक को धारण किया हुआ है। ऐसे आनन्दस्वरूप परमात्मा की हम अपनी हवियों के द्वारा उपासना करें।

यह संसार यदि हमें दिखाई दे रहा है तो वह प्रकाश के कारण है। जिस परमात्मा ने यह सृष्टि बनाई उसके अन्दर यह प्रकाश पहले से विद्यमान था। उसीका प्रकाश विश्वभर में फैला हुआ है। आजकल के वैज्ञानिक आम तौर से परमात्मा को नहीं मानते। पर हमें इस अनन्त ब्रह्मांड में निरन्तर परिवर्तन होता दिखाई देता है। जो भी आज है उसके पहले कुछ था जिससे आज का संसार वर्तमान दशा में आया। जो कुछ पहले था उसके पहले भी कुछ रहा होगा, और उसके भी पहले कुछ और। इस प्रकार चलते हुए हमें मानना पड़ता है कि कोई ऐसी सत्ता अवश्य है जो किसी से उत्पन्न नहीं हुई, अपितु जो स्वयंभू है।

आधुनिकतम विज्ञान की मान्यता के अनुसार सृष्टि के प्रारंभ में केवल एक बिन्दु (singularity) था जिसमें महाविस्फोट (big bang) हुआ और वहाँ से सृष्टि का प्रारंभ हुआ। ब्रह्मांड में असंख्य नीहारिकाएँ हैं, प्रत्येक नीहीरिका में असंख्य तारे हैं, जिनमें से एक मध्यम आकार के तारे, हमारे सूर्य, के चारों ओर परिक्रमा करती हमारी पृथ्वी, उस पर जीवन का विकास, उस विकास की परम्परा में उत्पन्न हुए मनुष्य, उनकी सभ्यता, विज्ञान, कला और निर्माण, और सुख, शान्ति, ज्ञान और मुक्ति पाने की मनुष्य की अभिलाषा—सभी उस एक बिन्दु के महाविस्फोट से विकसित हुआ।

भौतिक सृष्टि में विकास का क्रम किन नियमों के अनुसार चला इसका अध्ययन वैज्ञानिक कर रहे हैं। उसी शृंखला में जीवन का विकास हुआ ऐसा माना जाता है। पर जीवन में एक तत्त्व ऐसा है जिसकी व्याख्या वैज्ञानिक नहीं कर सकते, और वह है अनुभूति। सृष्टि की नीहारिकाएँ, तारे, सभी ग्रह-उपग्रह किन्हीं नियमों के अनुसार गति कर रहे हैं। वे पूरी तरह नियमों के अधीन हैं। किसी भी गति में किसी की स्वतंत्रता नहीं है।

पर जीवन? जीवन शरीर में प्रकट होता है और वह शरीर कुछ नियमों के अनुसार चलता है, यह सच है। पर हमारा जीवन केवल हमारा शरीर ही नहीं है। जीवन का केन्द्र अनुभूति है। प्रत्येक प्राणधारी का प्रत्येक कार्य उस समय उसके अन्दर विद्यमान अनुभूति से प्रेरित होता है। और यह अनुभूति किसी भौतिक पदार्थ से उत्पन्न नहीं हो सकती। एक भौतिक पदार्थ से दूसरा भौतिक पदार्थ ही उत्पन्न होगा, अनुभूति नहीं। अनुभूति का आयाम पदार्थ के आयाम से सर्वथा भिन्न है।

हमने देखा है कि हमारे अन्दर दो तत्त्व काम कर रहे हैं—पुरुष और प्रकृति। पुरुष चेतन तत्त्व है जिससे हमारी अनुभूतियाँ उत्पन्न होती हैं। (देखें इस अंक की प्रश्न-चर्चा)। प्रकृति से वह ऊर्जा आती है जिससे हमारा शरीर हमारे अन्दर उठनेवाली अनुभूतियों के रूप में काम करता है। चेतन के अभाव में जड़ प्रकृति कुछ निश्चित नियमों के अनुसार काम करती है (यद्यपि आधुनिक क्वांटम मैकेनिक्स में माना जाता है कि पदार्थ के सूक्ष्मतम स्तर पर किसी एक कण की गति सर्वथा अनिश्चित होती है जिसके बारे में हम भविष्यवाणी नहीं कर सकते कि वह कण अगले क्षण किधर जाएगा। केवल कणों के बड़े समूह के बारे में ही साख्यिकीय आधार पर निश्चित नियम बनाए जा सकते हैं।)

पर हमारे अन्दर का पुरुष तत्त्व किस प्रकार काम करेगा यह हम नहीं जान सकते (क्योंकि हम पुरुष और प्रकृति के संयोग से उत्पन्न हुए हैं।) कल इस समय आपके अन्दर कैसी अनुभूति होगी जिसके अनुसार आप कोई काम करेंगे इसे आज तय नहीं किया जा सकता, जबकि आप बता सकते हैं कि कल चांद और सूरज किस समय कहाँ होंगे, और अगला चन्द्रग्रहण किस तारीख को कितने बजकर कितने मिनट पर शुरू होगा। प्रकृति के निश्चित नियमों को वेद में **ऋत** कहा गया है। ऋत से भिन्न **सत्य** है जो सदा-सर्वदा एक ही रहता है, कभी बदलता नहीं। इसी सत्य में आनन्द सम्मिलित है इसलिए सृष्टि की अन्तिम सत्ता को **सत्-चित्-आनन्दस्वरूप** ब्रह्म कहा जाता है।

तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा गया है,"**आनन्दाद् हि खलु इमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्ति अभि संविशन्ति।**"—आनन्द से ही ये प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होने के बाद आनन्द के ही सहारे से जीते हैं, और आनन्द की ओर बढ़ते हुए अन्त में आनन्द में ही प्रवेश कर जाते हैं।

हमारी सभी अनुभूतियों के पीछे आनन्दमय ब्रह्म है। उसी ब्रह्म को यहाँ हिरण्यगर्भ कहा गया है। समस्त सृष्टि उस ब्रह्म से उद्भूत है। उस ब्रह्म को हम तर्क के द्वारा नहीं अपितु उसके आगे अपने आपको समर्पित कर, उससे एकाकार होकर, अपने अन्दर जान सकते हैं।

उस अवस्था में सृष्टि का सारा रहस्य हमारा सामने प्रकट हो जाएगा।●

हिरण्यगर्भः—जिसके गर्भ में स्वर्णिम प्रकाश छिपा था (हिरण्य=स्वर्ण), ऐसा परमात्मा, **अग्रे समवर्तत**—सृष्टि में सबसे पहले विद्यमान था। **जातः**—स्वयं उत्पन्न हुआ वह परमात्मा, **भूतस्य**—विश्व में जो कुछ भी है उसका, **एकः पतिः आसीत्**—एकमात्र स्वामी था, **सः**—उसी परमात्मा ने, **इमां पृथ्वीं**—इस पृथ्वी को, और, **द्यां**—द्युलोक को, **दाधार**—**धारण** किया हुआ है। **कस्मै देवाय**—उस आनन्दस्वरूप परमात्मा की, हम, **हविषा विधेम**—अपनी हवि, आहुति से पूजा-उपासना करें।

वैदिक सूक्तियाँ

एको विश्वस्य भुवनस्य राजा। ऋग्वेद 3.46.2
एक परमेश्वर ही सकल भुवन का राजा है।

भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्। यजुर्वेद 1.18
सूर्य-किरणों के सदृश तप से स्वयं को तपाओ।

भूयासं मधुसन्दृशः। अथर्ववेद 1.34.3
मैं शहद के समान मीठा हो जाऊँ।

मा भेम मा श्रमिष्म। ऋग्वेद 8.4.7
हम डरें नहीं, थकें नहीं।

मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्। यजु. 3.60
मैं मृत्यु से छूटूँ, अमरत्व से नहीं।

बन्धान्मुञ्चासि बद्धकम्। अथर्व 6.121.4
बद्ध को बन्धन से मुक्त कर।

पंडित रामनाथ वेदालंकार की पुस्तक 'वेद-मंजरी' से संकलित।

पतंजलि का योग-दर्शन-14

अनिल विद्यालंकार

64. वितर्क-बाधने प्रतिपक्ष-भावनम्। (2-33)

जब मन में संदेह उपस्थित हों तब हमें उनके बारे में उनसे विपरीत बात का विचार करना चाहिए।

(**वितर्कबाधने**—संदेहों द्वारा बाधा पहुँचाए जाने पर, **प्रतिपक्ष-भावनम्**—उसका विपरीत सोचना चाहिए।)

अगर योग के मार्ग पर चलने तथा यम और नियम के सिद्धांतों का पालन करने में हमारे मन में संदेह उत्पन्न हों तो हमें उनका सामना उनके विरोधी तर्कों के द्वारा करना चाहिए। उदाहरण के लिए, अगर हमें लगता है कि हम सदा सत्य नहीं बोल सकते तो हमें सोचना चाहिए, "ऐसा कैसे हो सकता है कि हम सत्य के साथ समझौता कर औरों के सामने झूठ बोलें और फिर भी मन की शान्ति पाने की आशा करें? अगर हर एक यह सोचे कि वह केवल तभी सच बोलेगा जब वह उसके अनुकूल होगा तो क्या संसार ऐसी दशा में सामंजस्य के साथ चल सकेगा? क्या अहिंसा के सिद्धांत को इस तरह माना जा सकता है कि हम अपने मित्रों की तो रक्षा करें और शत्रुओं को मारें? इसके परिणाम पर विचार करें। क्या हिंसा के बदले में हिंसा नहीं होगी जिसके कारण समाज में और स्वयं हमारे अन्दर हिंसा का भाव सदा बना रहेगा?" आदि, आदि। योग का लक्ष्य चित्त-वृत्ति-निरोध अर्थात् सभी प्रकार की मानसिक हलचल को शान्त करना है। योग की सिद्धि होने पर सारी विचार-प्रक्रिया स्वतः शान्त हो जाएगी, लेकिन यह लक्ष्य जल्दी में प्राप्त नहीं किया जा सकता। जब तक हम विचार और तर्क के स्तर पर रहते हैं तब तक हर नकारात्मक तर्क का सामना एक सकारात्मक विरोधी तर्क से करना आवश्यक है। अपने अन्दर चलनेवाले तर्क-वितर्क से तर्क की सीमा से ऊपर उठकर मनको शान्त कर सकते हैं।

65. वितर्का हिंसादयः कृत-कारितानुमोदिता लोभ-क्रोध-मोह-पूर्वका मृदु-मध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला, इति प्रतिपक्ष-भावनम्। (22-34)

विरोधी तर्कों का स्वरूप इस प्रकार का हो सकता है—हिंसा आदि के द्वारा अन्ततः दुःख और अज्ञान की वृद्धि होती है। ये हिंसा आदि कर्म व्यक्ति स्वयं कर सकता है, औरों से करवा सकता है या उनका समर्थन कर सकता है। इन कर्मों के कारण में लोभ, क्रोध और मोह होते हैं, और ये कोमल, मध्यम और तीव्र प्रकार के हो सकते हैं।

(**वितर्काः**—वितर्क, **हिंसादयः**—हिंसा आदि गलत काम, **कृत-कारितानुमोदिताः**—स्वयं किए गए हों (कृत), औरों से करवाए गए हों (कारित), या फिर, **अनुमोदिताः**—अनुमोदन किए गए हों, **लोभ-क्रोध-मोह-पूर्वका**—जिनके पहले लोभ, क्रोध, और मोह होता है, **मृदु-मध्याधिमात्राः**—जो कोमल, मध्य, या तीव्र प्रकार के हो सकते हैं, **दुःखाज्ञानानन्तफला**— जिनका परिणाम अनन्त दुःख, और अज्ञान में होता है, **इति प्रतिपक्ष-भावनम्** —इस प्रकार के विचारों से संदेहों का निवारण करना चाहिए।

जब हमें पता हो कि हमारे लक्ष्य तक पहुँचने का एक ही मार्ग है तो वह मार्ग चाहे जितना भी कठिन हो और हमें अपने लक्ष्य तक पहुँचने में चाहे कितना भी समय क्यों न लगे, हम उस मार्ग पर चलेंगे ही क्योंकि हमें अपने वांछित लक्ष्य तक ले जानेवाला कोई और मार्ग है ही नहीं। कुछ दूसरे मार्ग ज़्यादा सुखद और आकर्षक हो सकते हैं, लेकिन यदि वे हमें अपने लक्ष्य तक नहीं ले जाते तो वे हमारे लिए बेकार हैं और खतरनाक भी हो सकते हैं। यम और नियम के सिद्धांत हमें बहुत आकर्षक नहीं लग सकते। अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह, आत्म-नियंत्रण आदि में बहुतों की रुचि नहीं होती। जीवन में समृद्धि, सफलता और सुख पाने के लिए बहुत बार हिंसा, परिग्रह, प्रतिस्पर्धा और छल का मार्ग छोटा और आसान लगता है। लेकिन यह एक भ्रान्ति है। प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक इमानुएल काण्ट ने कहा है कि हमें नैतिक क्षेत्र में ऐसे सिद्धांतो का प्रतिपादन करना चाहिए जो सब पर समान रूप से लागू हों। यदि लोग हिंसा, परिग्रह, चोरी आदि में लगे रहें तो फिर समाज चल ही नहीं सकता। जो बुरे काम हम करते हैं उनसे तो हमें हानि होती ही है, लेकिन उन कामों से भी हानि होती है जिन्हें करने के लिए हम औरों को उकसाते हैं या जिनका हम समर्थन करते हैं। बहुत-से लोग स्वयं किसी को नहीं मारेंगे पर औरों को मारने के लिए प्रोत्साहित करेंगे, या फिर वे किसी प्रकार की चोरी या परिग्रह को प्रोत्साहित करेंगे जोकि आजकल के समाज में साधारण हो गया है। यह इसलिए है कि अपने लोभ पर हमारा नियंत्रण नहीं है।

जिन बुरे कामों का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से हम समर्थन करते हैं वे भी हमारी चेतना पर एक निशान छोड़ जाते हैं। व्यक्तिगत प्रसन्नता और सामाजिक समरसता के लिए यमों और नियमों के सिद्धांतों का निरपेक्ष रूप से पालन करना आवश्यक है। ऐसा न होने से समाज विशृंखल हो जाएगा।

इस प्रकार के चिंतन से योग के मार्ग पर चलते हुए हमारे मन में जो संदेह उठते हैं उनका सामना किया जा सकता है।

66. अहिंसा-प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैर-त्यागः । (2-35)

जिस व्यक्ति के अन्दर अहिंसा का भाव आ जाता है उसकी उपस्थिति में वैर नहीं रहता।

(**अहिंसा-प्रतिष्ठायां**–अहिंसा के पूरी तरह स्थापित हो जाने पर, **तत्सन्निधौ**–उसके निकट–**वैर-त्यागः**–वैर का त्याग हो जाता है।)

हिंसा का परिणाम हमेशा हिंसा ही होता है। बुद्ध ने धम्मपद में कहा, "वैर से वैर शान्त नहीं होता, केवल अवैर से वैर शान्त होता है। यह शाश्वत सिद्धांत है"। यदि कोई हमारे प्रति या हमारे प्रियजनों के प्रति हिंसा करता है तो इसके जवाब में हम भी प्रायः हिंसा करते हैं। "आँख के बदले आँख" का सिद्धांत आम है। यह प्रतिक्रिया चलती रहती है। यदि कोई हमें गाली देता है और बदले में हम उसे गाली देते हैं तो इससे स्थिति बिगड़ती ही है। और यदि हम भड़काए जाने पर भी शान्त रहते हैं तो सामने वाले को भी शान्त होने का एक अवसर मिलता है। हो सकता है कि अगली बार हमारे साथ व्यवहार करते हुए वह उतना हिंसक न हो। यदि हम अपने शत्रुओं को प्यार दें तो वे कभी न कभी अपनी शत्रुता छोड़ देंगे। इसके परिणाम तुरंत नहीं मिल सकते। अहिंसा के दो सबसे बड़े पुजारी ईसा मसीह और महात्मा गांधी को हिंसा के द्वारा मारा गया था। पर इससे हमें अहिंसा के मार्ग पर चलने में निरुत्साहित नहीं होना चाहिए क्योंकि अपने जीवन में शान्ति लाने का और कोई मार्ग है ही नहीं। अहिंसा के अधिकाधिक अभ्यास से हम अपने विरोधियों का मन जीत सकेंगे।

साथ ही, सत्य को जानने के लिए भी अहिंसा आवश्यक है। जब हम हिंसा पर उतारू होते हैं तो हमारा मन बहुत ही विक्षुब्ध होता है। इससे हमें चारों ओर की वास्तविकता विकृत रूप में दिखाई पड़ती है। हिंसा की प्रकृति वाले मनुष्य को जहाँ खतरा नहीं होता वहाँ भी खतरा दिखाई देता है। जब हमारे मन में शान्ति और प्रेम होता है तब हमारे अन्दर सत्य प्रकाशित होता है। इसलिए संवेगात्मक और बौद्धिक दोनों ही दृष्टियों से अहिंसा का आचरण हमारे जीवन में सहायक है।

67. सत्य-प्रतिष्ठायां क्रिया-फलाश्रयत्वम्। (2-36)

योगी में सत्य की स्थिति आ जाने पर उसके कर्म का फल उसके आश्रित रहता है।

(**सत्य-प्रतिष्ठायां**– (योगी में) सत्य स्थापित हो जाने पर, **क्रिया-फलाश्रयत्वम्** – उसके द्वारा की जाने वाली क्रिया का फल उसके आश्रित रहता है।)

हम सदा किसी न किसी उद्देश्य से अपने कर्म करते हैं। पर ऐसा प्रायः होता है कि हम अपने कर्मों से जो फल पाना चाहते थे वह नहीं मिलता। इसके कई कारण हैं। बहुत बार हमें उन पदार्थों, व्यक्तियों, विधियों और परिस्थितियों की जानकारी नहीं होती जो हमारे कर्म से संबंधित होते हैं। कभी-कभी हम किसी कार्य को करने की अपनी क्षमता का सही आकलन नहीं कर पाते। हम प्रकृति के उन नियमों से भी अनजान हो सकते हैं जो उस क्षेत्र में काम कर रहे हैं। इसका अर्थ यह है कि अपने बारे में और औरों के बारे में अज्ञान या गलत धारणा के कारण हमें अपने कर्म का वाञ्छित परिणाम नहीं मिलता।

अज्ञान और पक्षपात के कारण हमारी दृष्टि दूषित हो जाती है। योगी को अपने कर्मों के फल में कोई व्यक्तिगत रुचि नहीं होती। वह गीता में बताए गए निष्काम कर्म के सिद्धांत पर चलता है, इसलिए उसके मन में सदा शान्ति रहती है। मन में अन्दर शान्ति और स्पष्टता होने के कारण वह दूसरे व्यक्तियों को अधिक अच्छी तरह समझ सकता है, और अपने कर्मों के व्यावहारिक पक्ष को अधिक अच्छी तरह सम्हाल सकता है। गीता कहती है कि कर्मों में कुशलता ही योग है–**योगः कर्मसुकौशलम्**। कर्मों में कुशलता के कारण योगी न कभी ऐसी बात कहता है और न ऐसी योजना बनाता है जिसे पूरा न किया जा सके। इस प्रकार वह सदा सत्य के सिद्धांत पर आचरण करके अपने कर्मों का वाञ्छित फल पाने की स्थिति में रहता है।

68. अस्तेय-प्रतिष्ठायां सर्व-रत्नोपस्थानम्। (2-37)

कभी भी चोरी न करने की भावना की स्थिति पा लेनेपर, (योगी के सम्मुख) सारे रत्न (बहुमूल्य वस्तुएँ) उपस्थित हो जाती हैं।

(**अस्तेय-प्रतिष्ठायां**–अस्तेय की स्थिति पा लेने पर, **सर्व-रत्नोपस्थानम्** –योगी के सामने सारे रत्न उपस्थित हो जाते हैं।)

जीवन की बहुमूल्य वस्तुओं के प्रति मनुष्य का आकर्षण बहुत स्वाभाविक है। व्यक्तियों और राष्ट्रों में अधिक से अधिक सम्पत्ति जुटाने के लिए प्रबल संघर्ष होता है। अधिकतर यह संग्रह अन्याय और हिंसा पर आधारित उपायों के द्वारा किया जाता है। मनुष्य बहुत बार धन में दूसरों के भाग हड़प कर धनी बन जाते हैं। इस प्रकार के समाज में धनी मनुष्य भी वास्तव में मानसिक रूप से दरिद्र होते हैं क्योंकि वे अपना जीवन मानसिक विकास के बहुत निचले स्तर पर जी रहे होते हैं। उनका मन हमेशा ज़्यादा और ज़्यादा भौतिक पदार्थों को बटोरने में ही लगा रहता है, चाहे वे पदार्थ कैसे भी मिलें। वे जीवन में उच्चतर चीज़ों के बारे में सोच ही नहीं सकते। समाज में ऐसे लोग औरों से अपनी सच्चाई छिपाए रहते हैं क्योंकि उन्हें औरों के प्रति संदेह बना रहता है। बाहर से धनी होने पर भी वे आंतरिक रूप से वास्तव में बहुत दरिद्र जीवन जीते हैं।

इसके विपरीत, योगी को कभी भी किसी से किसी चीज़ की इच्छा नहीं होती। योगी सदा दूसरों को अपनी ही तरह प्यार करता है। सब मनुष्य उसके आगे अपना दिल खोल सकते हैं। तब सारा संसार ही उसका परिवार बन जाता है, और वह सारे संसार की सम्पत्ति को अपनी सम्पत्ति मान सकता है। बिना किसी चीज़ पर अधिकार किए योगी संसार में सब से धनी होता है। इस सूत्र में इस आंतरिक सम्पत्ति की ओर ही संकेत किया गया है।●

Yoga of Silence or Chup Sadhana-14

Mansoor Abdulla

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जना: पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।।

ananyāścintayanto māṃ ye janāḥ paryupāsate
teṣāṃ nityābhiyuktānāṃ yogakṣemaṃ vahāmyaham

There are those who have understood that the Source of everything is always present in the heart as the Self. For such people, staying in the heart, effortlessly, is the highest form of worship. Proximity itself becomes worship.

Self recognizing Self is the play of love. In this state of surrender, the Source acts like a mother, nurturing, protecting and fulfilling all the needs.

Prayer and Surrender

The limited personal self, imagining itself all day long to be helpless, small, defenceless, a victim of circumstances, subject to disease, death, old age and a dozen other dilemmas, prays for the fulfilment of desires and for protection from calamities.

From the perspective of Indian philosophy, the Self, present in the heart, is the Lord of the Universe, the Master of delusion (maya), and for whom all things are possible. As long as the conviction of being an individual self exists, one prays to an almighty God for the resolution of one's difficulties. Whether God is imagined to live in heaven, or is imagined as one's own Self, prayer is equally effective.

Simply put, prayer is a state of surrender. Being in the heart or coming out of the head is surrender. The individual conditioned self, realising its powerlessness, bows down or is willing to step aside. This willingness of the false-self or ego-self to step down is the opening of the door to the dungeon where the unconditioned-Self has been kept imprisoned.

The true-Self's arrival on the scene is the resolution of the problem. The

true-Self is already free and whole. The true-Self does not answer the prayer, but is the answer.

One can look at prayer in the way that everything one could possibly want is already present as one's Self. Because of deep rooted identification with the body, one feels vulnerable and powerless. The needs of the body feel like one's own needs, and the fears of the body become one's own fears. When one prays intensely, the prayer removes the barrier of the conditioning and reveals the heart where the prayer is already answered.

Another way to understand prayer is that in a sense, all desires are prayers, and all prayers get answered sooner or later. The problem is that in a state of unconscious living, many desires exist in contradiction to one another. For example, one may have a desire to eat a lot of tasty food, and also a desire to be slim. So, these two prayers will cancel each other out. One may desire to have a peaceful uncomplicated life and also seek complex relationships.

As one becomes quieter and quieter through Chup Sadhana or whatever practice, one finds that the thinning out of desires and Silence are the same thing. Desires create a wall between individual awareness and the Universal Awareness. As the desires dissolve, this artificial separation also dissolves and individuality and Universality become one silent space. In this Silence, in this state of 'nothing' all joy is seen as the joy of the Source. At this stage, desires, which were so important, start to feel like disturbance, and the desireless state is seen as the state of Grace.

"The true-Self's arrival on the scene is the resolution of the problem. The true-Self is already free and whole. The true-Self does not answer the prayer, but is the answer."

The highest prayer would be to pray to God for that state, in which one never has to pray for anything again. In other words, when God is experienced as one's Self, then what is there left to pray for? The personal limited self, realizing that it was always the unlimited Universal Self, is the state of Yoga. Again, it is not that one self is joining the other Self, which is what the word Yoga as union implies, rather the realization that there never were two separate selves. Realization is not an achievement, it is just an understanding, or just a shift in perspective.

In this way of looking, prayer and Yoga are the same thing. One could say that if it is absolutely not possible for somebody to practice Yoga, one can pray for Grace and reach the same state. Each prayer is an invocation, whether one is praying to this God or that God, or bowing before this statue or that statue, or using this name or that name. All prayers go to the place of truth in one's own heart. All prayers are answered from the same place. Even a prayer for material success or for mundane things, becomes a means of knocking on that door.

Any sincere prayer brings the attention from the head into the heart. In fact that is the complete spiritual journey.●

India is far from Sri Aurobindo's Vision

Claude Arpi

Claude Arpi was born in France in 1949. His spiritual search started in 1972 with a journey to the Indian Himalayas. Since then he has been an enthusiastic student of the history of Tibet, China and the subcontinent.

After graduating as a Dental Surgeon from Bordeaux University in 1974, he decided to come to India.

Claude Arpi regularly writes on the geopolitics of the region, environment and Indo-French relations.

You can visit his blog: http://claudearpi.blogspot.com

It is true that in the past two or three decades the Spirit of the country appears to have woven new garbs. But can we equate 'Indian renaissance' to economic growth, a Chinese-model development? Certainly not.

For once I would like to write a 'personal' column. Why? Because 40 years ago, I set my foot on Indian soil for the first time; it was presumably my 'good' karma which made me visit this country during my 1972 university holidays.

The journey took me to several places in the Himalayas, my main interest being to meet the Dalai Lama and the Tibetan refugees rehabilitated in hill stations, mostly working on the construction of high-altitude roads.

There was something strange about these people: They had lost everything, they were living in the worst imaginable conditions but still, they always smiled. Wherever I went, I had a similar experience.

After meeting the Dalai Lama in Dharamsala, I began to grasp that Tibetans, as well as Indians, had a different set of values compared to us Westerners. They did not possess much material wealth or political freedom (the Tibetans at least), but they had deep human qualities.

The Tibetan leader was the living embodiment of these values. Watching this 'simple monk', I understood that, though endangered, inner calm and compassion still exist; he was the personification of a wisdom which looked 'within'.

Perhaps the West had spent too much time looking 'outside', concentrating on 'outer' realisations, controlling the material world; in the process; it had forgotten the inner virtues and powers of the Spirit.

Did the Tibetan road worker have a lost key to happiness? This first discovery later led me to settle in India two years later.

I had another serious question: Should the 'outside', material world

be abandoned and all life devoted to reaching 'higher' realms?

Frankly, I had some reservations. Travelling for a couple of months in India in the early seventies was a shock for a foreigner. The dirt, the chaos in the big cities, the lack of 'modern' facilities, the blaring loudspeakers, the crowds — all these were a constant reminder that things were not so bad in Europe where trains ran on time, towns were clean, information was easily available to the public and hygiene was a way of life.

I carried with me a French translation of *The Life Divine*, Sri Aurobindo's magnum opus. One of the first sentences went home: "The affirmation of a divine life upon earth and an immortal sense in mortal existence can have no base unless we recognise not only eternal Spirit as the inhabitant of this bodily mansion, the wearer of this mutable robe, but accept Matter of which it is made, as a fit and noble material out of which He weaves constantly His garbs."

Matter had to be transformed in the image of the Spirit. I didn't want to spend my life in a Himalayan cave, but to live a 'real' life. Forty years later, one question remains: Is Sri Aurobindo still relevant in the 21st century?

A few lines can't do justice to Sri Aurobindo, who left us 35 volumes of his philosophical, political and evolutionary thought, as well as *Savitri*, an epic in 28,000 verses. However, some glimpses of his socio-political philosophy and how he translated it into action is thought-provoking.

Today, we hear that India is shining as never before. But on the streets of any metropolis or in the villages of rural India, one still sees the same 'misery' which I saw 40 years ago (with louder noise, more chaos, pollution and garbage).

It is true that in the past two or three decades the Spirit of India appears to have woven new garbs. But can we equate 'Indian renaissance' to economic growth, a Chinese-model development with an eight or nine per cent growth of the GNP (to 'become rich is glorious' à la Deng Xiaoping), it is certainly not the sort of renaissance Sri Aurobindo envisaged (though he excluded nothing).

'Synthesis' was a key word in Sri Aurobindo's vision. But 'synthesis' does not mean aping the West! India has to rediscover her past, not for the sake of the past, but because "Spirituality is the master-key of the Indian mind." The ancient seekers "saw that the complexity of the universe could not be explained in the present terms of man or seen by his superficial sight, that there were other powers behind, other powers within man himself of which he is normally unaware."

In the meantime, planetary civilisation is going through one of the most challenging times of its recorded history. Just read any newspaper, everywhere headlines are similar: Syria, climatic change, nuclear proliferation, corruption, new viruses…

In 1940, Sri Aurobindo foresaw: "At present mankind is undergoing an evolutionary crisis in which is concealed a choice of its destiny…"

How can we deal with this crisis? Sri Aurobindo's answer is by a change in consciousness; not only an individual one, but a revolutionary transformation of the entire race.

Most contemporary Indian politicians believed that Sri Aurobindo could no longer understand the intricacies of the freedom struggle.

But Sri Aurobindo strongly disapproved of the 'two-nation theory'. He described it as "only a newly-fangled notion invented by Jinnah for his purposes and contrary to the facts," pointing out: "Jinnah is himself a descendant of a Hindu, converted in fairly recent times, named Jinahbhai."

He also took a strong position of the Korean conflict. When North Korea attacked the South in June 1950, he foresaw the invasion of Tibet: "The whole affair is as plain as a pike-staff. It is the first move in the Communist plan of campaign to dominate and take possession first of these northern parts and then of South East Asia as a preliminary to their manoeuvres with regard to the rest of the continent — in passing, Tibet as a gate opening to India."

Sri Aurobindo opposed the hegemony of any one single ideology. For the planet to survive, every nation, every culture or individual has to find its rightful place according to its own genius.

Regarding India, Sri Aurobindo wrote to his brother Barindranath who spent several years in the Andamans' jail for opposing the mighty British Empire: "The chief cause of the weakness of India is not subjection nor poverty, nor the lack of spirituality or Dharma, but the decline of thought-power, the growth of ignorance in the motherland of Knowledge."

One of the many signs of the tremendous change has occurred in the explosion of the Indian IT phenomenon. But is it enough?

On August 15, 1947, coinciding with his 75th birthday, Sri Aurobindo wrote about five dreams. The first one was to see India united again: "India today is free but she has not achieved unity." The second dream was to see the "resurgence and liberation of the peoples of Asia." He envisaged an important role for Asia in the future of mankind. His third dream was a "world-union forming the outer basis of a fairer, brighter and nobler life for all mankind." Many groupings such the European Union or the Asean are already taking shape, though the sub-continent has been the slowest to come together.

The fourth dream was the "spiritual gift of India to the world." Here again, one just has to go to a bookshop in the West where a number of yoga, dharma or meditation centres are already flourishing.

The final dream was a new "step in evolution which would raise man to a higher and larger consciousness and begin the solution of the problems which have perplexed and vexed him since he first began to think and to dream of individual perfection and a perfect society."

Sri Aurobindo has described this quest as 'the Adventure of Consciousness and Joy'. It seems to be the most urgent task at hand for humanity. It is what attracted me to India 40 years ago; it is why I am still here.

"The chief cause of the weakness of India is not subjection nor poverty, nor the lack of spirituality or Dharma, but the decline of thought-power, the growth of ignorance in the motherland of Knowledge."•

संस्कृत पाठ-16

सामान्य भविष्यत् काल (लृट्); धातुओं के सेट् और अनिट् वर्ग); कर्तृवाच्य के कृत् प्रत्यय; त्वा, य प्रत्यय, 'चतुरः वानरः' कथा।

16.1 क्रि. सामान्य भविष्यत् काल (लृट् लकार): अब तक हमने चार गणों की धातुओं के **लट्, लङ्, लोट्** और **विधिलिङ् के** लकारों में रूप पढ़े हैं। अब हम **सामान्य भविष्यत्** काल के रूप सीखेंगे। संस्कृत में दो प्रकार के भविष्यत् काल हैं। इनमें से एक दूरवर्ती भविष्यत् है और दूसरा सामान्य भविष्यत्। दूरवर्ती भविष्यत् का प्रयोग सुदूर भविष्य में होने वाले कार्य के लिए होता था। सामान्य भविष्यत् काल का प्रयोग भविष्य में होने वाली किसी भी घटना के लिए हो सकता है। सामान्य भविष्यत् और दूरवर्ती भविष्यत् के प्रयोग का यह भेद बाद में प्रायः समाप्त हो गया।

टिप्पणी:– संस्कृत क्रियाओं का दस गणों में विभाजन केवल लट्, लङ्, लोट् और विधिलिङ् के परस्मैपद और आत्मनेपद पर ही लागू होता है। इन चारों को सम्मिलित रूप में '**सार्वधातुक लकार**' कहा जाता है। अन्य सभी लकारों में सभी गणों की धातुओं को एक-समान समझा जाता है।

16.2 क्रि. धातुओं के सेट् और अनिट् वर्ग:–यहाँ संस्कृत की धातुओं के एक अन्य महत्वपूर्ण भेद पर भी ध्यान देना आवश्यक है। सार्वधातुक लकार बनाने के लिए कुछ धातुओं के साथ प्रत्यय से पूर्व **-इ** जोड़ा जाता है इन्हें **सेट् धातु** कहते हैं जबकि कुछ धातुओं के साथ **-इ** नहीं जोड़ा जाता अर्थात् इनमें प्रत्यय सीधे धातु के साथ जुड़ते हैं। इनमें से पहले वर्ग को **सेट् वर्ग** दूसरे वर्ग को **अनिट् वर्ग** कहते हैं। कुछ धातुएँ ऐसी भी हैं जो सेट् और अनिट् दोनों वर्गों की हैं। इन्हें **वेट्** (विकल्प से इट्) कहते हैं क्योंकि इनमें विकल्प से **इ** जुड़ता है।

16.3 क्रि. लृट् लकार (सामान्य भविष्यत् काल) के परस्मैपद और आत्मनेपद के अन्त्य प्रत्यय नीचे दिए गए हैं। वर्तमान काल के अन्त्य प्रत्ययों से इनमें केवल इतना ही अन्तर है कि इनमें अन्त्य प्रत्ययों से पूर्व **-स्य** जुड़ जाता है:–

	परस्मैपद			**आत्मनेपद**		
	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथम पु.	**-स्यति**	**-स्यतः**	**-स्यन्ति**	**-स्यते**	**-स्येते**	**-स्यन्ते**
मध्यम पु.	**-स्यसि**	**-स्यथः**	**-स्यथ**	**-स्यसे**	**-स्येथे**	**-स्यध्वे**
उत्तम पु.	**-स्यामि**	**-स्यावः**	**-स्यामः**	**-स्ये**	**-स्यावहे**	**-स्यामहे**

16.4 क्रि. लृट् लकार बनाने के लिए नीचे लिखे नियम लागू होते हैं:

क) यदि **स्** से पहले **अ** या **आ** से भिन्न कोई स्वर हो तो **स् ष्** में बदल जाता है (देखिए पाठ 9.2)।

ख) लृट् लकार के अन्त्य प्रत्ययों से पहले धातु के अंतिम स्वर को और मध्यवर्ती (दो व्यंजनों के बीच आने वाले) ह्रस्व स्वर को गुण हो जाता है, जैसेः- **लिख्** का **लेख्**, और **जि** का **जे** हो जाता है।

ग) दसवें गण की धातुओं के **अङ्** का रूप वैसा ही रहता है

घ) **सेट्** धातुओं में धातु के साथ **इ** जुड़ता है। चुरादि गण की सभी धातुएँ सेट् हैं इसलिए इनके अंतिम **अ** का **इ** हो जाता है। **लिख्** धातु सेट् है, इसलिए गुण होकर और **इ** जोड़ने के बाद यह **लेखि** हो जाती है।

लिख् धातु के लृट् लकार के रूप निम्नलिखित हैं:

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथम पुरुष	**लेखिष्यति**	**लेखिष्यत:**	**लेखिष्यन्ति**
मध्यम पुरुष	**लेखिष्यसि**	**लेखिष्यथ:**	**लेखिष्यथ**
उत्तम पुरुष	**लेखिष्यामि**	**लेखिष्याव:**	**लेखिष्याम:**

पा धातु अनिट् है। इसके साथ भविष्यत् काल के अन्त्य प्रत्यय सीधे जुड़ते हैं। इसके सामान्य भविष्यत् काल के रूप आगे दिए गए हैं:-

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथम पुरुष	**पास्यति**	**पास्यत:**	**पास्यन्ति**
मध्यम पुरुष	**पास्यसि**	**पास्यथ:**	**पास्यथ**
उत्तम पुरुष	**पास्यामि**	**पास्याव:**	**पास्याम:**

16.5 क्रि. आइए अब हम लृट् लकार के अधिक प्रयोग में आने वाली कुछ धातुओं के प्रथम पुरुष, एकवचन के लृट् लकार के रूप देखें:—

क) निम्नलिखित धातुएँ सेट् हैं (इनमें अन्त्य प्रत्यय जुड़ने से पूर्व **इ** जुड़ता है):

कथ् (कथय्)	—	कथयिष्यति	**कृ (कर्)**	—	करिष्यति
क्रीड्	—	क्रीडिष्यति	**खाद्**	—	खादिष्यति
गम्	—	गमिष्यति	**चल्**	—	चलिष्यति
चुर् (चोरय्)	—	चोरयिष्यति	**पठ्**	—	पठिष्यति
पत्	—	पतिष्यति	**भू (भव्)**	—	भविष्यति
मन्त्र (मन्त्रय्)	—	मन्त्रयिष्यते	**मुद्**	—	मोदिष्यते
रुच्	—	रोचिष्यते	**लिख्**	—	लेखिष्यति
वृध् (वर्ध्)	—	वर्धिष्यते	**स्मृ (स्मर्)**	—	स्मरिष्यति

ख) निम्नलिखित धातुएँ अनिट् हैं। इनमें अन्त्य प्रत्यय जुड़ने से पूर्व **इ** नहीं जुड़ता:

गै	—	गास्यति	**जि**	—	जेष्यति
दा	—	दास्यति	**दृश्**	—	द्रक्ष्यति
नी	—	नेष्यति	**पच्**	—	पक्ष्यति
पा	—	पास्यति	**प्रच्छ**	—	प्रक्ष्यति
मन्	—	मंस्यते	**लभ्**	—	लप्स्यते
सृज्	—	स्रक्ष्यति	**स्था**	—	स्थास्यति

16.6 अ. नीचे दिए वाक्यों को पढ़िए और उनका हिन्दी में अनुवाद कीजिए:

1. ते अद्य सायम्[1] अस्माकं गृहम् आगमिष्यन्ति। 2. वयं तै: सह श्व:[2] नगरस्य दर्शनीयानि[3] स्थानानि द्रक्ष्याम:। 3. त्वं श्व: किं करिष्यसि? 4. अहं श्व: स्वकक्षाया: अन्यै: बालकै: सह क्रीडिष्यामि। 5. यूयम् अमेरिकादेशात् तस्यै किम् आनेष्यथ? 6. वयं तस्यै बहूनि वस्तूनि आनेष्याम:। 7. तासां बालिकानां पिता ता: रविवारे कुत्र नेष्यति? 8. स: ता: रविवारे जन्तुशाला[4] नेष्यति। 9. यूयमद्य किं खादिष्यथ? 10. वयमद्य केवलं दुग्धं पास्याम:। 11. वयं

सर्वे अद्य संस्कृतस्य नवीनं पाठं पठिष्यामः 12. त्रयाणां मासानां पश्चात्[5] वृक्षेभ्यः पत्राणि पतिष्यन्ति। 13. रात्रिः गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातम्[6]। 14. शास्त्राणां पठनेन अस्माकं ज्ञानं वर्धिष्यते। 15. वयं परिश्रमेण धनं लप्स्यामहे।

(**शब्दार्थः** 1. शाम को, 2. (आनेवाला) कल, 3. देखने लायक, 4. चिड़ियाघर, 5. के बाद, 6. सुहाना सबेरा, कभी-कभी प्रातःकालीन नमस्कार के लिए भी इसका प्रयोग होता है।)

16.7 क्रि. कृत् प्रत्ययः अब तक हमने धातुओं से बनने वाले ऐसे ही शब्द देखे हैं जो वाक्य में क्रिया का काम करते हैं। हमने देखा है कि किस प्रकार **पठ्** धातु से **पठति, पठतु, अपठन्, पठेयुः, पठ्यते** आदि रूप बनते हैं जो विभिन्न लकारों में विभिन्न पुरुषों और वचनों के साथ अन्वित होते हैं। ये क्रियारूप धातु के साथ **-ति, -तः, -अन्ति; -ते, -ईते, -अन्ते** आदि अन्त्य प्रत्ययों से मिलकर बनते हैं। इन प्रत्ययों को संस्कृत व्याकरण में **तिङ्** प्रत्यय कहते हैं और इनके योग से बनने वाले शब्दों को **तिङन्त** कहते हैं। इनके अतिरिक्त संस्कृत में धातुओं से बननेवाले अन्य बहुत-से शब्द हैं जो वाक्य में प्रयुक्त होते हैं। ये शब्द जिन प्रत्ययों के योग से बनते हैं उन्हें **कृत्** प्रत्यय कहा जाता है और उनके योग से बनने वाले शब्दों को **कृदन्त** शब्द कहते हैं। इस पाठ में हम एक महत्त्वपूर्ण **कृत् प्रत्यय त्वा/य** का परिचय प्राप्त करेंगे।

कृत् प्रत्यय त्वा—यदि वाक्य में एक ही कर्ता, समापिका क्रिया द्वारा बताए जाने वाले कार्य से पूर्व, एक या एक से अधिक कार्य कर रहा हो तो पहले होनेवाले कार्य को बताने के लिये **त्वा** कृत् प्रत्यय का प्रयोग होता है, उदाहरणार्थः **सः भोजनं कृत्वा भ्रमणाय अगच्छत्** —उसने भोजन किया और वह घूमने गया। इस वाक्य में भोजन करने का काम घूमने जाने से पहले हो रहा है, अतः उसे बताने के लिए **कृ** धातु के साथ **त्वा** प्रत्यय का प्रयोग हुआ है।

सेट् वर्ग की धातुओं में **त्वा** से पहले **इ** जुड़ता है—**सा प्रश्नान् पठित्वा तेषाम् उत्तराणि च लिखित्वा अध्यापकस्य समीपम् अगच्छत्** —वह प्रश्नों को पढ़कर और उनके उत्तरों को लिखकर अध्यापक के पास गई। इस वाक्य में मुख्य क्रिया से पहले दो कार्य हो रहे हैं, इसलिए उन्हें बताने के लिए पठित्वा और लिखित्वा का प्रयोग हुआ है। एक और उदाहरण देखिएः **चौरः बहूनि वस्तूनि चोरयित्वा गृहात् बहिः अगच्छत्** —चोर बहुत-सी चीज़ें चुराकर घर से बाहर चला गया। **पठित्वा, लिखित्वा, चोरयित्वा** शब्द सेट् धातुओं से बने हैं, इसलिए इनको बनाते समय धातु के साथ **इ** जुड़ गया है। त्वा जुड़ने पर धातुओं के अन्तिम नासिक्य व्यंजन का लोप हो जाता है जैसेः **गम् + त्वा = गत्वा।** नीचे **त्वा** प्रत्यय से बनने वाली क्रियाओं के कुछ उदाहरण देखिएः

कथ् + त्वा = कथयित्वा (कहकर)	**क्रीड् + त्वा** = क्रीडित्वा (खेलकर)
गण् + त्वा = गणयित्वा (गिनकर)	**गम् + त्वा** = गत्वा (जाकर)
पठ् + त्वा = पठित्वा (पढ़कर)	**श्रु + त्वा** = श्रुत्वा (सुनकर)
स्मृ + त्वा = स्मृत्वा (स्मरण करके)	**दृष् + त्वा** = दृष्ट्वा (देखकर)

यदि धातु से पूर्व कोई उपसर्ग हो तो **त्वा** के स्थान पर **य** का प्रयोग होता है। जो धातुएँ ह्रस्व स्वरांत होती हैं **अ** के बाद **य** से पहले **त्** भी जुड़ता हैः

अनु + भू + य = अनुभूय (अनुभव करके)
आ + दा + य = आदाय (लेकर)
आ + रुह् + य = आरुह्य (चढ़कर)
प्र + स्तु + य = प्रस्तुत्य (प्रस्तुत करके)
वि + जि + य = विजित्य (जीतकर)

टिप्पणीः- **न्** और **म्** में अंत होने वाली धातुओं में **न्** और **म्** व्यंजनों का विकल्प से लोप हो जाता हैः जैसेः- **आ + गम् = आगम्य, आगत्य;** (आकर) **प्र + नम् = प्रणम्य, प्रणत्य** (प्रणाम करके)।

16.9 अ. नीचे दिए वाक्यों को पढ़िए और उनका हिन्दी में अनुवाद कीजिएः

1. सः पूजां कृत्वा भोजनं करोति। 2. अहं किञ्चित् कालं भ्रमित्वा गृहम् आगमिष्यामि। 3. सैनिकाः अश्वान् आरुह्य युध्दं कुर्वन्ति। 3. मित्रैः सह क्रीडित्वा मोहनः अमोदत। 5. सः अत्र आगत्य माम् अमिलत्। 6. सैनिकाः शत्रून् विजित्य स्वदेशमागच्छन्। 7. तस्य कथनं श्रुत्वा सर्वे अहसन्।

16.10 प. नीचे दी गई कहानी को पढ़िए और उसका हिन्दी में अनुवाद कीजिएः

चतुरः वानरः

एकस्याः नद्याः तटे एकः विशालः जम्बुवृक्षः[1] आसीत्। तस्मिन् वृक्षे बहवः वानराः वसन्ति स्म। वृक्षस्य फलानि अति मधुराणि आसन्। वानराः तानि फलानि प्रतिदिनम् अखादन्। नद्याम् एकः मकरः[2] स्वजायया[3] सह अवसत्। सः मकरः प्रतिदिनं नद्याः तटे जम्बुवृक्षस्य अधः[4] आगच्छत्। तत्र एकः वानरः तस्य मित्रम् अभवत्। सः वानरः मकराय बहूनि जम्बुफलानि अयच्छत्। मकरः कानिचित् फलानि स्वयम् अखादत् कानिचित् च स्वजायायै अनयत्[5]। तानि मधुराणि फलानि तस्य जायायै अतीव अरोचन्त[6]।

एकदा[7] मकरस्य जाया तम् अकथयत्- तव मित्रं वानरः तु प्रतिदिनं बहूनि जम्बुफलानि खादति। अतः तस्य हृदयम् अति मधुरं भवेत्। अहं तव मित्रस्य हृदयं खादितुम्[8] इच्छामि। यदि त्वं तस्य हृदयं मह्यं न आनेष्यसि, तर्हि[9] अहं न जीविष्यामि।

(**शब्दार्थः**- 1. जामुन का पेड़, 2. मगरमच्छ, 3. जाया- पत्नी ; 4. नीचे; 5. ले जाता था; 6. अच्छे लगते थे; 7. एक बार; 8. **खादितुम् इच्छामि**—खाना चाहती हूँ, 9. तो)

स्वजायायाः सम्मुखे[1] मकरः विवशः[2] अभवत्। सः नदीतीरं गत्वा स्वमित्रं वानरम् अवदत्- भोः[3] मित्र, मम जाया त्वयि अतीव स्निह्यति। सा त्वाम् आवयोः गृहे भोजनाय आमंत्रयते[4]। त्वमद्य मया सह अवश्यं आवयोः गृहं चल।

वानरः अकथयत्- युवयोः गृहं तु नद्याः मध्ये[5] अस्ति। अहं तत्र कथं गमिष्यामि? मकरः अवदत्- अस्य उपायः सरलोऽस्ति। त्वं मम पृष्ठे[6] उपविश। अहं त्वां स्वगृहं नेष्यामि।

वानरः मकरस्य विश्वासम् अकरोत्। सः मकरस्य पृष्ठे उपाविशत्[7]। मकरश्च नद्याः मध्यभागं प्राचलत्[8]। मार्गे सः वानरम् अवदत्-भोः मित्र, अहमद्य अतीव दुःखितः अस्मि, यतः[9] अहं त्वां सत्यं न अवदम्। तव हृदयम् अति मधुरम् अस्ति इति मम जाया चिन्तयति। सा तव हृदयं खादितुम् इच्छति। अहं स्वजायायाः सम्मुखे विवशः अस्मि। अतः त्वां स्वगृहम् नयामि।

(**शब्दार्थः**— 1. सामने; 2. लाचार; 3. हे; 4. निमंत्रण दे रही है; 5. बीच में; 6. पीठ पर; 7. बैठ गया (उप+आ+विश्) , 8. चल पड़ा, 9. क्योंकि)

वानरः सहसा[1] अवदत्-यदि एषः तव विचारः आसीत्, तर्हि त्वं कथं[2] पूर्वम्[3] एव मां न अकथयः? अहं तु स्वहृदयं सदा वृक्षस्य कोटरे[4] एव धरामि[5]। त्वं मां शीघ्रं तत्रैव नय। अहं स्वहृदयम् आदाय[6] पुनः त्वया सह तव जायायाः भोजनाय आगमिष्यामि।

मूर्खो मकरः वानरं पुनः जम्बुवृक्षस्य अधः आनयत्। वानरः शीघ्रमेव मकरस्य पृष्ठात् वृक्षस्य शाखायाम्[7] अकूर्दत्[8]। सः मकरमवदत्-त्वं शठः[9] असि किन्तु मूर्खोऽपि असि। किं कस्यापि हृदयं तस्य शरीरात् पृथक्[10] भवति? गच्छ स्वगृहम्। भविष्ये अत्र कदापि न आगच्छ।

(**शब्दार्थः**—एकदम; 2. क्यों, कैसे; 3. (चलने से) पहले; 4. खोह में; 5. रखता हूँ 6. लेकर; 7. शाखा पर; 8. **कूर्द्**— कूदना; 9. कपटी, धूर्त; 10. अलग)

अभ्यासों के उत्तर

16.6 उ. 1. वे आज शाम को हमारे घर आएँगे। 2. कल हम उनके साथ शहर के दर्शनीय स्थानों को देखेंगे। 3. तुम कल क्या करोगे? 4. मैं कल अपनी कक्षा के दूसरे लड़कों के साथ खेलूँगा। 5. आप लोग अमरीका से उसके लिए क्या लाएँगे? 6. हम उसके लिए बहुत-सी चीजें लाएँगे। 7. उन लड़कियों के पिता उन्हें रविवार को कहाँ ले जाएँगे? 8. वे उन्हें रविवार

को चिड़िया-घर ले जाएँगे। 9. आप लोग आज क्या खाएँगे? 10. हम आज केवल दूध पिएँगे। 11. हम सब आज संस्कृत का नया पाठ पढ़ेंगे। 12. तीन महीने के बाद पेड़ों से पत्ते गिरेंगे। 13. रात गुजरेगी और सुहानी सुबह होगी। 14. शास्त्रों को पढ़ने से हमारा ज्ञान बढ़ेगा। 15. हम मेहनत से धन प्राप्त करेंगे।

16.9 उ. 1. वह पूजा करके खाना खाता है। 2. मैं थोड़ी देर घूमकर घर आऊँगा। 3. सैनिक लोग घोड़ों पर चढ़कर युद्ध करते हैं। 4. मित्रों के साथ खेल कर मोहन प्रसन्न हुआ। 5. वह यहाँ आकर मुझसे मिला। 6. सैनिक लोग शत्रुओं को जीतकर अपने देश में आ गए। 7. उसकी बात सुनकर सब लोग हँस पढ़े।

16.10 प. चतुर वानर:—एक नदी के किनारे बहुत बड़ा जामुन का पेड़ था। उस पेड़ पर बहुत-से बंदर रहते थे। पेड़ के फल बहुत मीठे थे। बन्दर हर रोज उन फलों को खाते थे। नदी में एक मगरमच्छ अपनी पत्नी के साथ रहता था। वह मगरमच्छ रोज़ नदी के किनारे जामुन के पेड़ के नीचे आ जाता था। वहाँ एक बंदर उसका मित्र बन गया। वह बन्दर मगरमच्छ को जामुन के बहुत-से फल देता था। मगरमच्छ कुछ फल तो स्वयं खा लेता और कुछ अपनी पत्नी के लिए ले जाता था। वे मीठे फल उसकी पत्नी को बहुत अच्छे लगते थे।

एक बार मगरमच्छ की पत्नी ने उससे कहा-तुम्हारा मित्र बन्दर हर रोज बहुत-से जामुन के फल खाता है। इसलिए उसका दिल बहुत मीठा होगा। मैं तुम्हारे मित्र के हृदय को खाना चाहती हूँ। यदि तुम उसका हृदय मेरे लिए नहीं लाओगे, तो मैं ज़िन्दा नहीं रहूँगी।

अपनी पत्नी के सामने मगरमच्छ लाचार हो गया। उसने नदी के किनारे जाकर अपने मित्र बंदर से कहा, प्रिय मित्र, मेरी पत्नी तुम्हें बहुत अधिक प्यार करती है। वह तुम्हें हमारे घर पर भोजन के लिए आमंत्रित कर रही है। तुम आज अवश्य मेरे साथ हमारे घर चलो।

बन्दर ने कहा, तुम्हारा घर तो नदी के बीच में है। मैं वहाँ कैसे जाऊँगा। मगरमच्छ ने कहा इसका तरीका (बहुत) आसान है। तुम मेरी पीठ पर बैठ जाओ। मैं तुम्हें अपने घर ले जाऊँगा।

बन्दर ने मगरमच्छ पर विश्वास कर लिया। वह मगरमच्छ की पीठ पर बैठ गया। मगरमच्छ नदी के मध्य भाग की ओर चल पड़ा। रास्ते में उसने बन्दर से कहा—प्रिय मित्र, मैं आज बहुत दु:खी हूँ क्योंकि मैंने तुमसे सच नहीं कहा। मेरी पत्नी समझती है कि तुम्हारा हृदय बहुत मीठा है, वह तुम्हारा हृदय खाना चाहती है। मैं अपनी पत्नी के सामने लाचार हूँ, इसलिए तुम्हें अपने घर ले जा रहा हूँ।

बन्दर ने एकदम कहा, अगर तुम्हारा यह विचार था तो तुमने मुझे पहले ही क्यों नहीं बताया? मैं अपना हृदय हमेशा पेड़ के खोल में रखता हूँ। तुम मुझे जल्दी वहाँ ले चलो। मैं अपने हृदय को लेकर फिर तुम्हारे साथ तुम्हारी पत्नी के भोजन के लिए आ जाऊँगा।

मूर्ख मगरमच्छ बन्दर को दुबारा जामुन के पेड़ के नीचे ले आया। बन्दर एकदम मगरमच्छ की पीठ से पेड़ों की शाखाओं पर कूदा। उसने मगरमच्छ से कहा—तू धूर्त है परन्तु साथ ही मूर्ख भी है। क्या किसी का हृदय उसके शरीर से अलग होता है? तू अपने घर जा। भविष्य में कभी इधर न आना।

प्रश्न-चर्चा

(वादे-वादे जायते तत्त्वबोधः—(चर्चा करते रहने से तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है।)

प्रश्न—आपने लिखा है कि मनुष्य का प्रत्येक कार्य और प्रत्येक विचार उसके अन्दर विद्यमान अनुभूतियों से संचालित होता है और इन अनुभूतियों पर मनुष्य का कोई नियंत्रण नहीं है। यह भी लिखा है कि मनुष्य के जीवन के अन्दर की हर हलचल उससे ऊपर की किसी शक्ति से नियंत्रित होती है।

इसका अर्थ क्या यह है कि हम जो भी कर्म करते हैं वह किसी ऐसी शक्ति की प्रेरणा से करते हैं जिस पर हमारा कोई नियंत्रण नहीं? यदि हाँ, तो इसकी संगति क्या उस दार्शनिक सिद्धांत से भी बैठाई जा सकती है जिसके अनुसार मनुष्य को कर्म करने में 'स्वतंत्र' बताया गया है (**कर्मण्येवाधिकारस्ते**); यदि नहीं तो क्या यह सिद्धांत गलत माना जाए?

टिप्पणी—आपने ठीक ही कहा है कि गीता कर्म करने में मनुष्य का अधिकार मानती है। कर्म के प्रसंग में श्रीकृष्ण ने कहा है—कर्मण्येवाधिकारस्ते (तेरा अधिकार केवल कर्म करने में है।) पर गीता में ही निम्नलिखित श्लोक भी है जिसे हम पहले भी देख चुके हैं—

ईश्वरः सर्वभूताना हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।। (गीता 18-61)

(ईश्वर सब लोगों के हृदय में विद्यमान है, और वह सब प्राणियों को ऐसे घुमा रहा है मानो वे यंत्र पर सवार हों।)

अन्यत्र गीता कहती है—

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन् अश्नन् गच्छन् स्वपन् श्वसन्।।
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन् उन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्।। (गीता 5-8,9)

(तत्त्व का ज्ञाता योगयुक्त मनुष्य "मैं कुछ नहीं कर रहा", ऐसा मानता है, क्योंकि उसके देखते हुए, सुनते हुए, सूँघते हुए, खाते हुए, जाते हुए, सोते हुए, साँस लेते हुए, बोलते हुए, विसर्जन करते हुए, ग्रहण करते हुए, इन्द्रियाँ ही अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त हो रही हैं, ऐसा वह जानता है।)

एक और स्थान पर गीता कहती है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकार विमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते।। (गीता-3-27)

(सारे कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा किए जा रहे हैं। अहंकार से विमूढ़ व्यक्ति "मैं कर्ता हूँ" ऐसा मानता है।)

हम सभी अपने-अपने अहंकार के अधीन हैं। कोई व्यक्ति अपने कर्म के बारे में क्या सोचता है, यह उस व्यक्ति के अहंकार की प्रकृति पर निर्भर करेगा। कई लोग बहुत-कुछ करके भी उसका श्रेय खुद न लेकर 'ऊपरवाले' को देते हैं। कुछ अन्य व्यक्ति थोड़ा-सा करके खूब श्रेय लेना चाहते हैं। सबका अपना-अपना स्वभाव है।

भारतीय दर्शन के अनुसार हमारा शरीर, इन्द्रियाँ, मन, अहंकार, बुद्धि, सब प्रकृति के तीन गुणों—सत्त्व, रज और तम, से बने हैं। हमारे अन्दर ये गुण हमारी अनुभूतियों के रूप में प्रकट होते हैं।

इस प्रसंग में अनुभूति पर ध्यान दे लेना अच्छा रहेगा। आम तौर से हम कुछ मूर्त अनुभूतियों के बारे में बात करते हैं। ठंड या गर्मी की अनुभूति, थकान या पीड़ा की अनुभूति। हम शोक या प्रसन्नता की अनुभूति की भी बात करते हैं जो अपेक्षाकृत सूक्ष्म हैं। पर यदि आप ध्यान दें तो पाएँगे कि हमें हर समय कोई न कोई अनुभूति अवश्य होती रहती है। आप इस समय इस चर्चा को पढ़ रहे हैं तो कोई अनुभूति आपको अवश्य हो रही है, अन्यथा आप पढ़ना बन्द कर देते। यदि आपको अभी

कोई ज़रूरी काम याद आ जाए तो आपकी अनुभूति बदल जाएगी और आप उस नई अनुभूति के अनुसार काम करने लगेंगे।

किसी अनुभूति के कारण हम कोई काम प्रारम्भ करते हैं और जब तक वह अनुभूति बनी रहती है हम वह काम करते रहते हैं। अनुभूति के बदलते ही हम नई अनुभूति के अनुसार काम प्रारंभ कर देते हैं और जब तक वह अनुभूति रहेगी हम वह काम करते रहेंगे। फिर अनुभूति के बदलने पर काम बदल जाएगा। कभी चाय बनाते हुए अपने आपको देखिए, कैसे हमारे अंदर एक के बाद एक अनुभूतियाँ बदलती जाती हैं और हम उनके अनुसार एक के बाद एक काम करते जाते हैं।

यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि हर अनुभूति का नाम नहीं होता। पानी गरम करने की एक अनुभूति है, चाय की पत्ती डालने की दूसरी, चीनी डालने की अनुभूति अलग है। इन अनुभूतियों के अलग-अलग नाम नहीं हैं, पर हम इन सब अनुभूतियों को अलग-अलग देख सकते हैं।

सुबह उठते समय हमारे अन्दर एक अनुभूति होती है। दाँतो को ब्रश करने की दूसरी। यदि हम घूमने जाते हैं तो उस समय की अनुभूति हमें याद दिला देती है कि हमें बाहर निकलना है। घूमते हुए हमें कोई मित्र मिल जाता है तो हमारी अनुभूति बदल जाती है और हम घूमना बन्द कर बात करना शुरू कर देते हैं। बात कितनी लंबी चलेगी यह इस बात पर निर्भर है कि उस विषय में हमारी रुचि, या कहें कि हमारी अनुभूति, कब तक वैसी बनी रहेगी।

प्रायः हमारे अन्दर अनुभूतियों को लेकर दुविधा होती है—यह करें कि यह। सुबह उठने के लिए आपने अलार्म लगाया है, पर आवश्यक नहीं कि आप अलार्म सुनकर उठ ही जाएँ। आपका उठना इस बात पर निर्भर करता है कि आपकी उठ जाने की अनुभूति और थोड़ा और सो लेने की अनुभूति में उस समय कौन-सी अनुभूति प्रबल है। अनुभूतियों की टकराहट में उस समय जो अनुभूति सबसे प्रबल होगी हम उसके अनुसार काम करेंगे। बहुत-से लोग जानते हैं कि शराब पीना बुरा है पर अपनी आदत छोड़ नहीं पाते क्योंकि उनके अन्दर अच्छा स्वास्थ्य रखने की अनुभूति के मुकाबले शराब से पैदा हुई अनुभूति प्रबल होती है। बहुत-से लोग आवश्यकता से अधिक खाते हैं क्योंकि खाने की उनकी अनुभूति डाक्टर की सलाह से पैदा हुई अनुभूति से अधिक प्रबल होती है।

बोलना और सोचना भी क्रियाएँ हैं, और हम किसी समय क्या बोलेंगे, कैसे बोलेंगे, कितना बोलेंगे यह हमारे अन्दर की उस समय की अनुभूति पर निर्भर करता है। सोचने की प्रक्रिया भी उस समय विद्यमान अनुभूति से नियंत्रित होती है। अनुभूति बदलने के साथ हमारा चिन्तन बदल जाता है। गहरे ध्यान की अवस्था में जब हमारी विविध अनुभूतियाँ शान्त हो जाती हैं तो न केवल हमारे शारीरिक काम थम जाते हैं अपितु साथ ही हमारा बोलना और सोचना भी शान्त हो जाता है।

तो अबतक हमने देखा कि—

1. मनुष्य किसी भी समय जो कुछ भी करता है उसके पीछे उस समय उसके अंदर विद्यमान अनुभूति होती है।

2. हर अनुभूति का नाम नहीं होता।

3. अनुभूतियों की दुविधा या टकराहट में उस समय जो अनुभूति सबसे प्रबल होती है मनुष्य उसके अनुसार काम करता है।

मनुष्य की चेतना में जो कुछ भी किसी समय हो रहा है वह उस समय की उसकी अनुभूति है। हम वास्तव में सदा किसी न किसी अनुभूति के बारे में चेतन होते हैं। कोई अनुभूति हमें हो रही है और हम उसके प्रति चेतन नहीं हैं, ऐसा कहना अन्तर्विरोध होगा।

अब देखना है कि हमारी अनुभूतियाँ आती कहाँ से हैं। कोई काम करने के लिए हमारे अन्दर उस काम के प्रति सकारात्मक अनुभूति होनी चाहिए, और उस अनुभूति को हम पैदा नहीं करते। ऐसा नहीं है कि हम कोई काम करने के पहले उस काम को करने की अनुभूति जगाते हैं। होता यह है कि हमारे अन्दर कोई अनुभूति उठती है और हम उस अनुभूति के अनुसार काम करना शुरू कर देते हैं। क्या हम पानी पीने से पहले पानी पीने की आवश्यकता की अनुभूति जगाते हैं या फिर प्यास की अनुभूति ही हमारे शरीर से आवश्यक काम करवाती है? वन में किसी हिंस्र पशु को देखकर आदमी भागने लगता है। भय की अनुभूति ही उसके शरीर को गति देती है, भागने का विचार नही। इस प्रकार किसी काम का कर्तृत्व मनुष्य के अन्दर नहीं अपितु उसके अन्दर उस समय विद्यमान अनुभूति में होता है। सही अर्थों में कर्ता मनुष्य नहीं, उसकी अनुभूतियाँ हैं।

प्रश्न उठ सकता है—तब तो कोई भी मनुष्य अपने

काम के प्रति ज़िम्मेवार ही नहीं होगा। कोई भी हत्यारा कहेगा, हत्या करने में मेरा दोष नहीं। मैं क्या करता। उस समय हत्या करने की मेरी अनुभूति इतनी प्रबल हो गई कि मैं अपने आपको रोक नहीं सका। इस तरह तो समाज की न्याय-व्यवस्था ही ठप हो जाएगी।

यह सच है कि हत्यारे की उस समय की अनुभूति ने उससे वह जघन्य कृत्य करवाया। पर यह भी सच है कि समाज में और भी लोग हैं जिनकी अपनी अनुभूतियाँ हैं और जो अपनी अनुभूतियों के अनुसार न्याय की माँग करेंगे। न्यायाधीश अपने विवेकपूर्वक विचार के बाद उत्पन्न अनुभूतियों के आधार पर दोषी को दण्ड देंगे। और इस प्रकार सामाजिक व्यवस्था का सिलसिला चलता रहेगा।

पहले सभी देशों में हत्या के लिए मृत्युदंड दिया जाता था। आधुनिक जीवन के कारण अनुभूतियाँ बदलीं। कई देशों में मृत्युदण्ड समाप्त कर दिया गया है। कुछ अन्य देशों में इसके विषय में बहस चल रही है। भविष्य में फैसला उस समय की अनुभूतियों के आधार पर होगा।

यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है कि क्या हम अपनी अनुभूतियों को बदल सकते हैं। क्या हम जो चाहें वह अनुभूति अपने अन्दर जगा सकते हैं? क्योंकि यदि हम कर्म करने में स्वतंत्र हैं तो कोई कर्म करने से पहले उस विषय की अनुभूति हमें प्रयत्नपूर्वक जगानी पड़ेगी। इसके विषय में प्रयोग करना आसान है। आप इसी समय अपने पड़ोसी का ध्यान करके उसके प्रति क्रोध की अनुभूति जगाइए। किसी युवक को कहके देखिए कि जो पहली लड़की उसे दिखे उससे प्यार करने लगे। अपने अन्दर अभी इस समय भय, चिन्ता, भूख या प्यास की अनुभूति जगाकर देखिए ताकि आप उनके अनुसार काम कर सकें। हम आसानी से देख सकते हैं कि ऐसा नहीं हो सकता। कोई अनुभूति जब उठेगी तब उठेगी, और नहीं उठेगी तो नहीं उठेगी। आप प्रयत्नपूर्वक अपने अन्दर कोई अनुभूति नहीं जगा सकते।

पर हमारे अन्दर सदा ही कोई न कोई अनुभूति उठती रहती है। भूख, प्यास जैसी अनुभूतियों का स्रोत हम अपने शरीर के अन्दर मान सकते हैं। पर आशा, निराशा, भय, चिन्ता, आकांक्षा, जिज्ञासा, असन्तोष, शान्ति, अशान्ति, उदासीनता, ईश्वर को जानने-पाने की इच्छा—इन सब का स्रोत कहाँ है? कह सकते हैं कि इनका स्रोत मन में है। पर मन क्या है? हमारा मन भी तो हमारी अनुभूतियों के अनुसार काम करता है। तो मन को नियन्त्रित करनेवाली अनुभूतियाँ कहाँ से आती हैं?

आइए देखें।

यदि हमारे कमरे के अन्दर छत से पानी टपक रहा है तो कमरे के अन्दर रहते हुए हम नहीं जान सकते कि पानी के टपकने का स्रोत कहाँ है। उसे जानने के लिए हमें कमरे के बाहर जाना होगा। इसी प्रकार यदि हमारी चेतना में एक के बाद एक अनुभूतियाँ उठती रहती हैं तो उनके स्रोत को जानने के लिए हमें चेतना के उस स्तर पर जाना होगा जहाँ अनुभूतियों का जन्म होता है। अवश्य ही यह स्थिति मन को शान्त करने की साधना के द्वारा ही सम्भव है। उसके पहले अपनी अनुभूतियों के स्रोत को जानने का प्रयास केवल अनुमानमात्र होगा, उसी तरह जैसे कमरे के अन्दर रहते हुए पानी टपकने के स्रोत का अनुमान करना है।

जिन लोगों ने मन की हलचल के ऊपर की शान्त चेतना की अवस्था प्राप्त की है उनका कहना है कि हमारी सारी अनुभूतियों का स्रोत चेतना का महासागर है जिसे हम ईश्वर या कोई भी नाम दे सकते हैं।

तो फिर क्या हम पूरी तरह परतंत्र हैं? फिर तो कोई मनुष्य किसी अच्छे काम के लिए प्रयत्न ही क्यों करेगा? सब हाथ पर हाथ धरकर बैठ जाएँगे। पर गीता कहती है—

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत्।।

(गीता 18-60)

(हे अर्जुन, तुम अपने स्वभाव से और उसके अनुसार किए गए कर्मों से बँधे हो। यदि अज्ञान के कारण तुम कोई काम न करने का विचार भी करोगे तो भी तुम्हें लाचार होकर वह काम करना पड़ेगा।)

हम सभी अपने-अपने स्वभाव से बँधे हैं। और अपना स्वभाव हमने स्वयं नहीं बनाया है। स्वभाव बदला नहीं जा सकता। नेपोलियन ने कहा था, "मैं भाग्य में विश्वास करता हूँ, पर मेरे भाग्य में है कि मैं संघर्ष करूँ।" अच्छे से अच्छा प्रयत्न करके भी आप किसी के स्वभाव में बहुत ही मामूली परिवर्तन ला सकते हैं। जो लोग पैसे के पीछे पागल हैं उन्हें उपदेश देने से उनकी प्रवृत्ति बदल नहीं जाएगी। सामाजिक नियंत्रण ही किसी सीमा तक उनको बन्धन में रख सकता है। दूसरी ओर जो व्यक्ति पैसे और यश की कामना से ऊपर उठकर ज्ञान-प्राप्ति के इच्छुक हैं वे भी अपने स्वभाव के ही अनुसार काम कर रहे हैं। वे पैसे के पीछे पागल नहीं हो सकते।

बिना फल की इच्छा के, अपने स्वभाव के अनुसार कर्तव्य कर्म करते रहने में ही मनुष्य की स्वतंत्रता है।●

पाठकों की बात

आपके परिश्रम, लगन और संकल्प के बल पर *भारत संधान* एक वर्ष का हो गया। इस उपलब्धि पर हम सभी पाठक आपका हृदय से अभिनन्दन करते हैं और परमपिता परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि आपको स्वस्थ रखे, साधन-संपन्न रखे, दीर्घजीवी बनाए ताकि आपके ज्ञान एवं अनुभव का लाभ हमें मिलता रहे। बारहवें अंक के सम्पादकीय में आपने बारहों अंकों की सामग्री का मानो सार-संक्षेप प्रस्तुत करके गागर में सागर भर दिया है। यह बहुत बड़ा श्रमसाध्य काम था, अतः इसके लिए आपको विशेष बधाई।

संभवतः मैंने आपको बताया था कि यहाँ इस पत्रिका को मेरे परिवार के बाहर दो अन्य मित्र (एक सेवानिवृत्त पुलिस अधीक्षक और दूसरे एक डाक्टर) भी पढ़ते हैं और फिर हम लोग सुविधानुसार इसकी सामग्री पर चर्चा भी करते हैं।

डा. रवीन्द्र अग्निहोत्री, मोदीपुरम, मेरठ

भारत-संधान मुझे नियमित मिलता रहा है। प्रत्येक अंक मैं उत्सुकतापूर्वक पढ़ता हूँ। अभी जुलाई अंक का सम्पादकीय पढ़ा। वह प्रकारान्तर से इस माध्यम से इस पत्रिका के समस्त अंकों का सम्यक् आकलन है, और अपने रूप में उपयोगी और स्मरणीय है—सभी के लिए। इसे सच्चे अर्थों में आत्मदान कहना चाहिए, इस उदार उद्यम को जो आप इतने मनोयोग से करते आ रहे हैं। 'क्लेशः फलेन पुनर्नवतां विधत्ते' वाली कालिदास की उक्ति के सहारे मैं यही सहज विश्वास व्यक्त करना चाहूँगा कि आपका यह प्रेम-परिश्रम, यह नैष्ठिक अध्यवसाय अवश्य वाञ्छित परिणाम उत्पन्न करेगा, और मौजूदा दृश्य में ज़रूरी सकारात्मक हस्तक्षेप की तरह कारगर भी होगा।

मैं इन दिनों केन्द्रीय विश्वविद्यालय, हैदराबाद में 'सर्वपल्ली राधाकृष्णन चेयर फ़ॉर इंटरडिस्सिप्लिनरी स्टडीज़' में कार्यरत हूँ। मैं वहाँ दो-चार समानशील-व्यसनी लोगों से आग्रह करूँगा *भारत-संधान* मँगाने के लिए।

हम लोग अल्मोड़ा के हैं। वहाँ के कई लोगों को लिखा था यह पत्रिका मँगाने-पढ़ने-पढ़वाने के लिए। किन्तु लगता नहीं किसी को वैसी प्रेरणा हुई। ऐसी मुर्दनी छाई है कि क्या बताएँ। सबसे अधिक ग्लानिजनक दशा तो स्वयं शिक्षा-संस्थाओं की है। मैं प्रत्यक्ष देख-भोग रहा हूँ। 'तदपि न मुञ्चत्याशा पिण्डम्'। पश्चिमी कवि तो साफ कहता है—'Hope springs eternal in the human breast/ Man never is but always to be blest.' अब यूँ यथार्थवादी धरातल पर तो कटु सत्य है यह। परन्तु भारतीय मन-मस्तिष्क में कुछ ऐसा है— ऐसा संस्कार पुरखों के तप का कि हम इसे न जानते-समझते हुए भी नहीं छोड़ सकते। योग द्वारा स्वातंत्र्य और आनन्द की अनुभूति साक्षात् सत्यापनीय है, उसके दृष्टान्तों को देखते हुए भी लोगों के मन में एक दुविधा बनी रहती है।

प्रो. रमेशचन्द्र शाह, पद्मश्री, भोपाल

भारत-संधान नियमित रूप से पढ़ता हूँ। आँखें खोल देनेवाली पत्रिका है। बचपन से भारतीय संस्कारों में बड़ा हुआ हूँ। जानना चाहता था कि आखिर वह भारतीय चिन्तन क्या है जिसे सारे संसार के चिन्तन से अलग माना जाता है। योग के बारे में विशेष तौर से जानने की इच्छा थी। पत्रिका की सरल शैली ने बहुत-से विषय स्पष्ट कर दिए हैं और आगे पढ़ने-सीखने की उत्सुकता जगा दी है। विज्ञान का विद्यार्थी होने के नाते यह जानना विशेष रूप से सन्तोषजनक है कि आधुनिकतम विज्ञान और भारतीय दर्शन एक ही बिन्दु पर पहुँच रहे हैं। इस दृष्टि से पाश्चात्य मूर्धन्य वैज्ञानिकों के विचार पत्रिका में देने का प्रयास बहुत प्रशंसनीय है।

विभु भल्ला, नई दिल्ली

भारत-संधान पत्रिका के बारे में

यह पत्रिका जिसे आप देख रहे हैं, कोई सामान्य पत्रिका नहीं है। यह किसी राजनैतिक या धार्मिक संगठन के प्रश्रय से चलाई जानेवाली पत्रिका नहीं है। इसमें किसी भी वाद को लेकर किसी भी तरह की, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष नारेबाज़ी नहीं होगी। वास्तव में हमारा प्रयास होगा कि हम अपने पाठकों को सभी प्रकार के वादों से ऊपर उठाकर उस सत्य तक पहुँचने में सहायता करें जो सभी वादों, यहाँ तक कि सभी शब्दों के परे है। भारत में साधना के द्वारा इस सत्य को खोजने की परंपरा रही है और हम उस परंपरा को एक बार फिर, पहले से विशाल और व्यावहारिक परिप्रेक्ष्य में, आपके सम्मुख प्रस्तुत करना चाहते हैं।

भारत-संधान केवल सैद्धांतिक पत्रिका नहीं है। यदि शब्द, एक ओर अनुभूति और दूसरी ओर कर्म को प्रभावित नहीं करते तो उनका कोई मूल्य नहीं है। हम अपने सभी विचारों को इस दृष्टि से प्रस्तुत करेंगे कि भारतीय चिन्तन किस प्रकार हमारी वैयक्तिक, सामाजिक, शैक्षिक, धार्मिक, और अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाने में हमारी सहायता कर सकता है, और इस संबंध में व्यावहारिक सुझाव देने का प्रयास करेंगे।

इस प्रयास में आपके सहयोग की प्रार्थना है।

भारत-संधान की मुद्रित प्रति का ग्राहक बनने के लिए

एक प्रति	20 रु.
वार्षिक (साधारण डाक से)	240 रु.
वार्षिक कूरियर से (एन.सी.आर. सहित उत्तरी भारत)	400 रु.
विद्यार्थियों के लिए वार्षिक	100 रु.
वार्षिक कूरियर से भारत में अन्यत्र	500 रु.
वार्षिक, विदेश में (हवाई डाक से)	30 अमेरिकी डालर

ऑनलाईन सदस्यता शुल्क जमा करने के लिए: Bharat Sandhaan, Current Account No.: 604520110000565, Bank of India, Saket Branch, New Delhi, IFSC: BKID0006045

राशि मनीआर्डर, बैंक ड्राफ्ट या चैक से 'भारत संधान' के नाम से भेजें। दिल्ली के बाहर के चैक के लिए 50 रु. अतिरिक्त जोड़ें साथ में निम्नलिखित जानकारी देने की कृपा करें: नाम, पता, पिनकोड, फोन न. व ई-मेल।

भारत-संधान, जे-56 साकेत, नई दिल्ली-110017. फोन 011-41764317

अपना 1 प्रतिशत देश को दें

यदि आप वैदिक काल से अब तक के भारतीय विचारों के इतिहास पर दृष्टि डालें तो आप पाएँगे कि यहाँ सभी विचारधाराओं का विकास उन व्यक्तियों के द्वारा किया गया है जिन्होंने अपने जीवन में साधना का और दूसरों की स्वार्थरहित सहायता का मार्ग अपनाया था। ऐसा इसलिए कि जबतक व्यक्ति अपने स्वार्थकेन्द्रित जीवन से अलग नहीं होता तब तक वह मुक्त चिन्तन नहीं कर सकता। उसके चिन्तन में स्वार्थ की छाया पड़ती ही पड़ती है। हम आजकल अपने चारों ओर आए दिन देख रहे हैं कि समाज, देश और संसार की समस्याओं को सुलझाने के लिए जो भी विचार प्रस्तुत किए जाते हैं उनमें प्रायः ही विचारकर्ताओं का अहंकार, पक्षपात, अज्ञान और स्वार्थ किसी न किसी रूप में छिपा रहता है।

इसलिए हमारा सुझाव है कि आप अपनी संकुचित दृष्टि और उसके पूर्वग्रहों से मुक्त होने का प्रयास करें। इसके कई उपाय हो सकते हैं। हम सुझाव दे रहे हैं कि आप अपनी आय का और अपने समय का एक प्रतिशत समाज और देश को दें। अथर्ववेद में कहा गया है **शतहस्त समाहर, सहस्त्रहस्त संकिर–** सौ हाथों से जोड़ों और हज़ार हाथों से बिखेरो। इसी दृष्टि के कारण वैदिक ऋषि अपने सीमित स्वार्थ और उसके कारण उत्पन्न संकुचित दृष्टि से ऊपर उठकर जीवन और जगत् के प्रति विशालतम दृष्टिकोण अपनाकर चरम सत्य की खोज कर सके थे।

एक प्रतिशत आय से अधिक महत्त्वपूर्ण एक प्रतिशत समय समाज और देश को देना है। एक प्रतिशत समय का मतलब है सप्ताह में लगभग दो घंटे। इतना समय और कुछ पैसे लेकर आप समानविचारवाले कुछ मित्रों के साथ घर से बाहर निकलकर देखिए। आपको अपने आप दिखने लगेगा कि समाज में क्या किया जा सकता है।

उदाहरण के लिए आप अपने पड़ोस में स्वच्छता से संबंधित किसी काम की शुरूआत कर सकते हैं। पड़ौस में वाचनालय प्रांरभ कर लोगों में पढ़ने की रुचि जगा सकते हैं। विद्यालयों के निर्धन छात्रों की सहायता कर सकते हैं। उन्हें कोई विषय निश्शुल्क पढ़ा सकते हैं। अपने नगर या गाँव में विभिन्न समस्याओं पर परिचर्चा आयोजित कर सकते हैं। किसी गरीब की उसके इलाज में मदद कर सकते हैं। काम बहुत हैं, और एक बार जब आप घर से बाहर निकलेंगे तो आपका परिवेश आपको अपने आप काम सुझाने लगेगा।

केवल उस समय जब आप स्वार्थरहित होकर काम कर रहे होंगे, आप अपने मन और अहंकार के स्वरूप और उनकी कार्यप्रणाली को समझ सकेंगे। तब आप पाएँगे कि आपका जीवन एक विशालतम चेतना के महासागर में एक लहर है। लहर के सतही जीवन में प्रतिस्पर्धा का आकर्षण है, पर उसमें समझ का सर्वथा अभाव है। वास्तव में सतही जीवन की दौड़भाग में लगे हुए व्यक्ति के अंदर जीवन को समझने की न तो इच्छा ही होती है और न उसके लिए अवकाश ही।

और जब आप समाज या देश के लिए कुछ करें तो किसी पर अहसान की भावना से नहीं, क्योंकि वैसा करने से आप फिर एक सीमित क्षुद्र दृष्टि से घिर जाएँगे। आप उस काम को अपनी वैयक्तिक साधना के रूप में लीजिए। मानों पूरा भारत एक आश्रम हो और आपको उसमें साधना के रूप मे कोई काम करने के लिए दिया गया है।

आप एक प्रतिशत से प्रारंभ कीजिए। धीरे-धीरे आप पाएँगे आप समाज और देश के लिए और अधिक करना चाहते हैं क्योंकि केवल वही काम आपको सच्चा सुख और शांति देता है जो आप दूसरों के लिए करते हैं।

प्रकाशकः अनिल विद्यालंकार।
अरुण एण्ड राजीव प्रा.लि., 10 डीएसआईडीसी, स्कीम-II ओखला इंडस्ट्रियल एरिया फेज़-II, नई दिल्ली-110020 द्वारा मुद्रित।